॥ श्रीराम ॥

मानस-शङ्का-समाधान

जयरामदास 'दीन'

प्रथम संस्करण ३२५०, सं० १९९९
द्वितीय संस्करण ५०००, सं० २०००

मूल्य ।।) आठ आना

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

सम्पादकका निवेदन

श्रीरामचरितमानसके कथा-प्रसङ्गोंपर पाठकगण नाना प्रकारकी शङ्काएँ किया करते हैं और विद्वान् लेखक तथा कथा-वाचकगण उनका विभिन्न प्रकारोंसे समाधान करते रहते हैं। 'मानस' की ऐसी शङ्काओंका वैकुण्ठवासी श्रीदीनजी बड़ा सुन्दर समाधान करते थे और सुननेवालों तथा पढ़नेवालोंको उससे बड़ा सन्तोष होता था। इस संग्रहमें ऐसी ही कुछ खास-खास शङ्काओंका समाधान प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है इससे पाठकोंको सन्तोष होगा।

रतनगढ़
कार्तिककृष्ण ४ सं० १९९९ वि०

विनीत
हनुमानप्रसाद पोद्दार
सम्पादक

॥ श्रीराम ॥

विषय-सूची

भगवान् श्रीराम

श्रीहरिः

मानस-शङ्का-समाधान

१—श्रीहनुमान्‌जीकी उपासना कब करनी चाहिये ?

शङ्का—सर्वसाधारण और अधिकतर महात्माओंके मुखारविन्दसे सुननेमें आता है कि 'सवा पहर दिन चढ़ जानेके पहले श्रीहनुमान्‌जीका नामजप तथा हनुमानचालीसाका पाठ नहीं करना चाहिये ।' क्या यह बात यथार्थ है ?

समाधान—आजतक इस दासको न तो किसी ग्रन्थमें ऐसा कहीं प्रमाण मिला है, न अभीतक किसी महात्माके ही मुखारविन्दसे सुननेको मिला है कि उपासकको किसी उपास्यदेवके स्तोत्रोंका पाठ या उसके नामका जप इत्यादि प्रातःकाल सवा पहरतक न कर, उसके बाद करना चाहिये । बल्कि हर जगह इसी बातका प्रमाण मिलता है कि सदा और निरन्तर तैलधारावत् अजस्र, अखण्ड भजन-स्मरण करना चाहिये । यथा—

'रसना निसि बासर राम रटौ ।' (कवित्त-रामायण)

'सदा राम जपु राम जपु।'

'जपहि नाम रघुनाथ को चरचा दूसरी न चालु।'

'तुलसी तू मेरे कहे रट राम नाम दिन राति।'

(विनय-पत्रिका)

इसी प्रकार श्रीहनुमान्‌जीके सम्बन्धमें भी सदा-सर्वदा भजन करनेका ही प्रमाण मिलता है। यथा—

मर्कटाधीस मृगराज बिक्रम महादेव मुद मंगलालय कपाली।

× × × ×

सिद्ध सुर बृंद जोगींद्र सेवित सदा,

दास तुलसी प्रनत भय तमारी।

(विनय० पद २६)

पुनः—

मंगलागार संसार भारापहर बानराकार बिग्रह पुरारी।

× × × ×

राम संभ्राज सोभा सहित सर्बदा,

तुलसि मानस रामपुर बिहारी॥

(विनय० पद २७)

कदाचित् किसीको श्रीहनुमान्‌जीके इस वचनका ध्यान आ गया हो कि—

प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥

परन्तु इसका भावार्थ लेना चाहिये। यहाँ 'हमारा' शब्दका सम्बन्ध ऊपरकी चौपाईके 'कपिकुल' अर्थात् वानर-योनिसे है, न कि अपने शरीर (श्रीहनुमान्-विग्रह) से है। वहाँ आप कहते हैं—

कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥

अर्थात् 'विभीषणजी ! आप अपनेको राक्षसकुलका मानकर भय मत करें। बताइये, मैं ही कौन-से बड़े श्रेष्ठ कुलका हूँ। वानर-योनि तो चञ्चल और पशु होनेसे सभी प्रकारसे हीन है। हमारे कुल (वानर) का अगर कोई प्रातःकाल नाम ले ले तो उस दिन उसे आहारका ही योग नहीं लगता—

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

—ऐसे अधम कुलका मैं हूँ; किन्तु सखा ! सुनिये, मुझपर भी श्रीरामजीने कृपा की है।' इस विरदको स्मरण कर कहते-कहते श्रीहनुमान्‌जीके नेत्रोंमें आँसू भर आये। अतः 'हमारा' शब्दका भाव यह है कि कुल तो हमारा ऐसा नीच है कि 'वानर' शब्दका ही सबेरे मुँहसे निकलना अच्छा नहीं माना जाता; परन्तु उसी योनिमें उत्पन्न मैं जब प्रभुका कृपापात्र बना लिया गया, तब तो—

राम कीन्ह आपन जबही तें। भयउँ भुवन भूषन तबही तें॥

—मेरे हनुमान्, महावीर, बजरङ्गी, पवनकुमार आदि नाम प्रातःस्मरणीय हो गये। इसका प्रमाण इस प्रकार है—

असुभ होइ जिन्ह के सुमिरन तें बानर रीछ बिकारी।
बेद बिदित पावन किए ते सब, महिमा नाथ तिहारी॥
(विनय० पद १६६)

अतएव श्रीरामायणजीके उपर्युक्त पदोंसे श्रीहनुमान्‌जीका नाम सबेरे जपनेका निषेध कदापि सिद्ध नहीं होता; उसका तात्पर्य 'वानर' शब्दसे ही है, जो कुलकी न्यूनताका द्योतक है, स्वयं श्रीहनुमान्‌जीकी न्यूनताका नहीं। कहीं-कहीं लोग ऐसा तर्क

करते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी रातमें जगनेके कारण सबेरे सोते रहते हैं अथवा सबेरे श्रीरामजीकी मुख्य सेवामें रहते हैं, इसलिये सवा पहर वर्जित है; सो न तो इसका कोई प्रमाण अभीतक इस दीनको मिला है और न यह बात उचित ही मालूम होती है कि योगिराज, ज्ञानिनामग्रगण्य श्रीहनुमान्‌जी पहरभर दिन चढ़नेतक सोते रहते हैं, अथवा उनका अमित दिव्य विग्रह और अमोघशक्ति वपु एक रूपसे सरकारी सेवामें तत्पर रहते हुए दूसरे अनेक रूपोंसे अपने भक्तोंकी सेवा स्वीकार करनेमें असमर्थ रहता है। जहाँ प्रेमपूर्वक श्रीरामनामका जप और श्रीरामायणजीका पाठ होता है, वहाँ तो श्रीमारुतिजी सदा मौजूद रहते हैं——चाहे वह प्रातःकाल हो या और कोई काल हो। फिर इस झगड़ेमें पड़कर तो श्रीहनुमान्‌जीके आराम-विश्रामके लिये सवा पहर भगवद्भजन भी छोड़ना पड़ेगा, जिसका छूटना ही उनकी दृष्टिमें विपत्तिजनक है——

कह हनुमान बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

अतएव इस दीनके तुच्छ विचारसे तो सवा पहर क्या, एक क्षण भी भाग्यवानोंको श्रीहनुमत्-नाम-भजन और पाठादिसे विमुख नहीं रहना चाहिये। प्रातःकालका समय तो भजनके लिये है ही। श्रीमारुतिजी सदा और सब कालमें वन्दनीय हैं——

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

सियावर रामचन्द्रकी जय!

२–शिव और रामकी सच्ची उपासनाका रहस्य

श्रीमानसमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥

यहाँ शङ्का उठती है कि जो मनुष्य शिवजीका भक्त है और रामचन्द्रजीसे द्रोह रखता है—(जैसे रावण)—तो वह क्योंकर घोर नरकमें वास कर सकता है? पुनः जो रामचन्द्रजीका परमभक्त है, वह शिवजीसे द्रोह ही क्यों न रखता हो, वह कदापि नरकगामी नहीं हो सकता! क्योंकि जो मनसा-वाचा-कर्मणा अपने इष्टमें सच्चा प्रेम करता है, वह मुक्त हो जाता है। यदि कोई भक्त नरकगामी होता है, तो कहना पड़ेगा कि अपने इष्टका वह सच्चा प्रेमी नहीं था और न इष्टकी कृपा ही उसके ऊपर हुई थी। श्रीरामचन्द्रजीका वचन है—'प्रान ते अधिक भक्त प्रिय मोरे।' और शङ्करजी औढरदानी प्रसिद्ध ही हैं, जरा-सी भक्तिसे त्रिलोकीका राज्य सौंप दे सकते हैं।

उपर्युक्त शङ्काको अच्छी तरहसे समझनेके लिये प्रसङ्गको पूरा-पूरा उद्धृत करना आवश्यक है। इससे पाठकोंको दोहेके भावको ठीक-ठीक जाननेमें सहायता मिल सकती है—

लिंग थापि बिधिवत करि पूजा। सिव समान प्रिय मोहि न दूजा॥
सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥

जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥
जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि। सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि॥
होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥
मम कृत सेतु जो दरसनु करिही। सो बिनु श्रम भवसागर तरिही॥
राम बचन सब के जिय भाए। मुनिबर निज निज आश्रम आए॥
गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥
बाँधा सेतु नील नल नागर। राम कृपाँ जसु भयउ उजागर॥
बूड़हिं आनहि बोरहिं जेई। भए उपल बोहित सम तेई॥
महिमा यह न जलधि कइ बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कइ करनी॥

श्री रघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान।
ते मतिमंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन॥

उपर्युक्त शङ्कामें यह विचार प्रकट किया गया है कि 'जो मनुष्य शिवजीका भक्त है और रामजीसे द्रोह रखता है, अथवा जो रामचन्द्रजीका परमभक्त है और शङ्करजीसे द्वेष रखता है, वह कदापि नरकगामी नहीं हो सकता।' परन्तु यह बात सम्भव नहीं है, क्योंकि श्रीमुखके वचनोंसे ही यह सिद्ध हो रहा है कि—

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा॥

यहाँ 'कहावा' शब्दद्वारा स्पष्ट अभिप्राय बोध हो रहा है कि 'शिवजीसे द्रोह करनेवाला मेरा कहनेमात्रका भक्त है, वह मेरा यथार्थ दास नहीं है। ऐसा आदमी अपनेको झूठ ही रामदास कहता है।' जैसे—

बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥

अतएव 'सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा।' सारांश यह है कि

'शिवजीसे द्रोह करनेवाला आदमी स्वप्नमें भी मुझे प्राप्त न होगा; क्योंकि मेरी प्राप्ति मेरे भक्तोंको ही होती है,' और—

संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥

अर्थात् 'जो शिवजीसे द्रोह करके मेरी भक्तिकी इच्छा करता है, वह मूढ़ तुच्छ बुद्धिवाला मनुष्य उल्टे नरकगामी होता है।' क्योंकि श्रीरामभक्तिके भंडारी और दाता तो शिवजी ही हैं। अतः उनसे द्रोह करके श्रीरामभक्तिको पाना भी असम्भव ही है। जैसे—

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥

तथा—

सिव पद कमल जिन्हहि रति नाहीं। रामहि ते सपनेहुँ न सोहाहीं॥
बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥

इसी सिद्धान्तका निष्कर्ष प्रस्तुत प्रसङ्गमें इस प्रकार वर्णित हुआ है—

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥

इसी प्रकार जो शिवजीका भक्त बननेकी इच्छा करता हुआ श्रीरामजीसे द्रोह रक्खेगा, उसे अपने इष्टसे द्रोह करनेके कारण शिवजी स्वयं रुष्ट होकर नरक भेज देंगे। इसके प्रमाणमें उत्तर-काण्डमें भुशुण्डिजीका चरित्र देखना चाहिये। उन्हें श्रीगुरुदेवद्वारा शिक्षा मिलती है—

सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥
रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पावँर कर केतिक बाता॥
जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥

—और इस शिक्षाके न माननेसे अवज्ञाके फलस्वरूप स्वयं

शिवजी उन्हें अधोगतिका दण्ड देते हैं। भुशुण्डिजीसे बढ़कर शिवजीका अनन्य भक्त दूसरा कौन होगा; परन्तु अपने इष्टका अनादर कोई सच्चा सेवक नहीं सह सकता, और रामभक्तशिरोमणि जिन शिवजीने श्रीसीतामाताका वेष धारण करनेके कारण सती-जैसी अपनी अनन्य प्रियाका त्याग कर दिया था—

सिव सम को रघुपति ब्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥
पन करि रघुपति भगति दृढ़ाई। सिव सम को रामहि प्रिय भाई॥
सिय बेषु सतीं जो कीन्ह तेहिं अपराध संकर परिहरीं।

—जिन शिवजीने सतीकी तनिक चूकपर यह प्रण कर लिया कि—

जौं अब करउँ सती सन प्रीती। मिटइ भगति पथु होइ अनीती॥

—वे शिवजी साधारण मनुष्यको रामद्रोही ['सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा' के अनुसार] जानकर भी उस अपने इष्टके अपराधीको अपना भक्त मानेंगे या उसे घोर नरकमें डालेंगे ? अतः रामका द्रोही होते हुए भी शिवभक्त होना असम्भव है। तात्पर्य यह है कि 'सेवक स्वामि सखा सिय पी के' अनुसार श्रीरामजी और श्रीशिवजीमें अन्योन्य अखण्ड प्रीतिका सम्बन्ध है; अतः जो मनुष्य इन दोनोंमेंसे एकका द्रोही होगा, वह दूसरेका भी द्रोही हो जायगा। इसलिये उसे भक्त न कहकर अभक्त ही कहना अधिक सङ्गत होगा। और भक्त तो देव-द्रोह क्यों, संसारके किसी भी प्राणीसे द्रोह नहीं करता—

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।

पुनः जहाँ अनन्य भक्तका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है कि—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

—वहाँ अपने सेव्यके परम प्रियतमसे ही द्वेष करनेवाला नरकगामी न हो तो फिर उसका और कहाँ ठिकाना लग सकता है? जब—

चौदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्टइ नहिं सोई॥

—अर्थात् चौदहों भुवनोंका एक मालिक हो जानेपर भी जगत्के प्राणियोंसे द्वेष करनेसे पतन होता है। तब भगवान् राम और शङ्करसे द्रोह करनेपर यदि कल्पभर नरकमें वास करना पड़े तो इसमें अत्युक्ति क्या होगी? नरकसे बचनेका उपाय तो श्रीरघुनाथजी तथा श्रीशिवजीकी भक्ति ही है; अतः जो मनुष्य भगवत् और भागवत दोनोंकी भक्तिसे विमुख है अथवा इनसे द्रोह करता है, उसे महानरक मिले—इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इसीलिये श्रीमुखसे भगवान्ने कहा है—

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥

अर्थात् 'जो अपनेको शिवजीका प्रिय दास मानकर मुझसे द्रोह मानता है, अथवा मेरा दास बनकर शिवजीसे द्रोह मानता है, वह वस्तुतः न मेरा ही भक्त है और न शिवजीका ही; बल्कि वह हम दोनोंका द्रोही है। अतः इस द्रोहके प्रायश्चित्तस्वरूप उसे कल्पभर घोर नरकमें वास करना पड़ेगा।'

इस शङ्कामें उदाहरणस्वरूप रावणका नाम पेश किया गया है। परन्तु वह भी जबतक श्रीरामजीसे द्रोह बिना किये श्रीशिवजीकी

तपस्या करता रहा, तबतक भगवान् शिव अनुकूल होकर उसे सुख-सम्पत्ति प्रदान करते रहे। जैसे—

सादर सिव कहँ सीस चढ़ाए। एक एक के कोटिन्ह पाए॥

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।

—इत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध होता है। परन्तु जब उसने श्रीरामचन्द्रजीसे द्रोह आरम्भ किया तथा रामभक्तों, देवता, गौ और ब्राह्मणोंको दुःख देने लगा तब वही शिवजी उस रावणके विनाशमें तत्पर हुए। जब पृथ्वीने दुःखित होकर देवताओंके साथ ब्रह्मलोकमें जाकर रावणके नाशके लिये पुकार मचायी, तब श्रीशिवजीने उनके साथ होकर वे जहाँ थे वहीं भगवान्की स्तुति करनेके लिये कहा। जैसे—

तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥
हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
मोर बचन सब के मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥

तथा जब श्रीरामचन्द्रजी अवतार लेकर रावणका विध्वंस करने लगे, तब श्रीशिवजी हर्षसे फूले न समाये और अपने उसी रामद्रोही सेवकका नाश अपनी आँखों देखकर प्रसन्न हो उठे। जैसे—

हमहूँ उमा रहे तेहि संगा। देखत राम चरित रन रंगा॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके द्रोहीसे श्रीशिवजी भी रुष्ट हो जाते हैं। अब यदि यह शङ्का की जाय कि ऐसे अपचारी रावणको नरक क्यों नहीं प्राप्त हुआ, तो इसका कारण श्रीरामजीके हाथोंसे उसकी मृत्यु होना है। शिवजीकी भक्तिसे उसे मोक्ष नहीं मिला। केवल रावण ही नहीं, श्रीरामजीके हाथों जितने जीव मारे गये सभी मुक्त हो गये—जैसे, 'कीन्हे मुकुत निसाचर झारी॥'

वालीने कौन-सी शिवभक्ति की थी, जो 'राम बालि निज धाम पठावा।' मृगोंने शिवजीकी कौन-सी तपस्या की थी, जो—

जे मृग राम बान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥

भला, जो शिवजी रावणको 'सुर महिसुर हरिजन अरु गाई' का हिंसक तथा श्रीरामजीका विरोधी मानकर उसके सत्यानाशमें तत्पर होते हैं, वही उसे मुक्ति देनेकी चेष्टा करें—यह सर्वथा असम्भव है। बल्कि श्रीरामजी अपने द्रोहीको भी मुक्ति देते हैं, यह बात स्वयं शिवजी कहते हैं—

उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥
देहिं परम गति सो जियँ जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥

अर्थात् 'पार्वति! श्रीरामजीका कोमल चित्त करुणाकी खान है; वे जब हृदयमें विचारते हैं कि निशाचर मुझे वैरभावहीसे सही, स्मरण तो करते हैं तो उनको परमगति देते हैं। भवानी! ऐसा कृपालु स्वामी दूसरा और कौन हो सकता है?' अतएव रावणके उदाहरणसे इस प्रसंगमें दोष नहीं आता, बल्कि श्रीमुखके वचनोंसे यही प्रमाणित होता है कि श्रीरामद्रोहीपर स्वप्नमें भी श्रीशिवजीकी कृपा नहीं होती। हाँ, शङ्का करनेवाले महाशयका यह विचार यथार्थ ही है कि 'जो मनसा-वाचा-कर्मणा अपने इष्टमें सच्चा प्रेम रखता है, वह अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होगा, नरकको नहीं। और यदि वह नरकगामी हुआ तो कहना होगा कि वह अपने इष्टका सच्चा भक्त नहीं था और न उसके इष्टकी ही उसपर कृपा थी।'

३–रामचरितमानसका प्रथम श्रोता कौन था ?

प्रश्न—

रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा ॥
तातें रामचरितमानस बर । धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर ॥
(बाल० ३४ । ६)

उपर्युक्त चौपाईके अर्थसे यह जान पड़ता है कि भगवान् शिवने मानसकी रचना करनेके पश्चात् उसे सर्वप्रथम माता पार्वती-जीको सुनाया । परन्तु—

सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल ।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड़ ॥
(बाल० १२० [ख])

—इस सोरठेके भावार्थसे यह सिद्ध होता है कि शिवजीके द्वारा पार्वतीजीको कहे जानेके पूर्व इस रामकथाको काकभुशुण्डिजीने

कहा और पक्षिराज गरुड़ने सुना। फिर ऊपरकी चौपाईमें सर्वप्रथम श्रीपार्वतीजीके श्रवणकी बात क्यों लिखी गयी ?

उत्तर—सचमुच यह प्रश्न बड़ा गम्भीर है कि श्रीरामचरितमानसका सर्वप्रथम श्रोता कौन ठहराया जाय। रचयिता शिवजी हैं, यह तो निर्विवाद है; परन्तु उन्होंने उसकी रचना करनेके बाद सर्वप्रथम इसे भुशुण्डिजीको प्रदान किया अथवा पार्वतीजीको सुनाया, इसी विषयका विचार करना है। इस बातका निर्णय करनेके लिये जब हम सम्पूर्ण मानस-ग्रन्थकी छानबीन करते हैं तो यही पता चलता है कि शिवजीने जिस समय यह कथा पार्वतीजीको सुनायी थी, उसके प्रथम ही वे स्वयं श्रीनीलाचल (काकभुशुण्डिजीके आश्रम) पर जाकर हंसरूपसे उस कथाको सुन आये थे। और भुशुण्डिजीने, जिन्होंने हंसरूप शिवजीको यह कथा सुनायी थी, श्रीगरुड़जीके प्रति यह कथन किया है कि उन्हें यह कथा (रामचरितमानस) सत्ताईस कल्प पहले भगवान् शिवजीकी कृपासे श्रीलोमश ऋषिके द्वारा प्राप्त हुई थी। इन सब बातोंके प्रमाण श्रीरामचरितमानसमें ही मौजूद हैं, उन्हें क्रमशः देखिये—

बालकाण्डमें भगवान् शिवका वचन शिवाके प्रति—

सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड़॥
सो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगें कहब।
सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ॥
(१२० [ख], [ग])

उत्तरकाण्डमें पुनः शिवजीका वचन शिवाके प्रति, जिसमें उनके हंसरूप होकर भुशुण्डिजीसे कथा सुननेका प्रमाण है—

तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आयउँ कैलास॥

(५७)

उत्तरकाण्डमें श्रीभुशुण्डिजीका कथन, जिसमें सत्ताईस कल्प पहले कथा प्राप्त होनेकी बात है—

इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥

(११३।५)

उत्तरकाण्डमें ही दोहा ११२ और ११३ के बीच श्रीलोमश-जीका वचन श्रीभुशुण्डिजीके प्रति—

रामचरित सर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा॥
तोहि निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी॥

अब इन सबके पूर्व पार्वतीजीको कथा-श्रवण करानेमें जो वाक्य प्रमाण हैं, वे इस प्रकार हैं—

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥

× × × ×

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥

(बाल० २९।२-३)

इन चौपाइयोंमें 'सिवा सन भाषा' और 'उमहि सुनावा' के पश्चात् 'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा' पढ़नेपर यह अनुमान होने

लगता है कि पहले-पहल पार्वतीजीको ही यह कथा प्राप्त हुई थी। इसलिये इस विरोधाभासका निराकरण करनेके लिये पाठकोंके समक्ष दो बातोंका आधार दिखलाते हुए निर्णय किया जा रहा है। वे दोनों बातें निम्नलिखित हैं—

पहली बात तो यह है कि इस श्रीरामचरितमानसकी रचना जब शिवजीने की है, तब वह भुशुण्डि-आश्रमका निर्माण होनेके सत्ताईस कल्प पहले किस कल्पमें हुए अवतार-चरित्रके आधारपर रचा गया था। जब हम इस प्रश्नका उत्तर खोजने चलते हैं, तब पता चलता है कि जिस कल्पमें नारद-मोह तथा उनके शापद्वारा अवतार हुआ था, उसी कल्पमें श्रीरामचरितमानसकी रचना हुई थी। इसका प्रमाण उत्तरकाण्डकी चौपाइयाँ हैं, जो 'मानस-मुख्य-हृदय'में हैं एवं जिनमें भुशुण्डिद्वारा गरुड़जीको पूरा मानस सुनानेकी बात वर्णित है—

प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। रामचरित सर कहेसि बखानी॥
पुनि नारद कर मोह अपारा। कहेसि बहुरि रावन अवतारा॥
प्रभु अवतार कथा पुनि गाई। तब सिसु चरित कहेसि मन लाई॥
(६३। ४-५)

तात्पर्य यह कि जिस निजरचित रामचरितमानसको श्रीशिवजीने लोमश ऋषिद्वारा भुशुण्डिजीको प्रदान किया था, उसमें रामावतारका हेतु केवल नारद-मोह ही था। उस चरित्रमें नारदके शापसे ही दो शिवगण रावण और कुम्भकर्ण हुए थे। और जब शिवजीने उस चरित्रको पार्वतीजीको सुनाया है, तब अवतारके हेतु-कथनमें नारद-मोहके साथ-साथ तीन कल्पोंके तीन और हेतुओंको भी शामिल कर दिया है। वे हेतु इस प्रकार हैं—(१) जय-

विजयका रावण-कुम्भकर्ण होना, (२) जलन्धर राक्षसका रावण होना तथा (३) राजा प्रतापभानु और उसके भाई अरिमर्दनका रावण-कुम्भकर्ण होना। बालकाण्डमें चार कल्पोंके चारों हेतुओंका प्रमाण मौजूद है। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि श्रीमहेशजीने श्रीरामचरितमानसको नारद-मोहके हेतुसे हुए अवतारकालमें ही रचकर 'निज मानस' में रख लिया था—'रचि महेस निज मानस राखा'—और उसके अनेक कल्प बाद प्रतापभानुवाले कल्पमें (जिस कल्पमें मनु-शतरूपा दशरथ-कौसल्या हुए थे) जब सतीजीको मोह हुआ और अपने पिता दक्षके यज्ञमें शरीर त्यागकर उन्होंने पार्वतीजीके रूपमें दूसरा जन्म ग्रहण किया, तब श्रीशिवजीने अवसर पाकर उनके उस मोहकी निवृत्तिके लिये उन्हें उस रामचरितमानस को सुनाया। उस समय श्रीशिवजीने स्ववर्णित चरित्रके हेतुभूत नारदमोहके प्रसङ्गके साथ उस कल्पके अवतारका भी हेतु-प्रकरण सुनाना उचित समझा, जिसमें सतीको मोह हुआ था। साथ-ही साथ उन्होंने 'जय-विजय' और 'जलन्धर' के हेतुओंको भी इसलिये ले लिया कि उन कल्पोंमें त्रिपादविभूतिगत श्रीविष्णुभगवान्का अवतार हुआ था, जिसके कारण सतीजीको शङ्का हुई थी कि—

विष्नु जो सुर हित नर तनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥

—अतः श्रीशिवजीको उनकी वह शङ्का भी निवृत्त करनी थी।

अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यह कथा श्रीभुशुण्डजीको श्रीपार्वतीजीके श्रवणकालके सत्ताईस कल्पसे भी अधिक पहले लोमश ऋषिके द्वारा प्राप्त हो चुकी थी। उसी कथाको श्रीकाकभुशुण्डजी नीलगिरिपर, जिसके एक योजन आस-पासतक माया

नहीं व्याप सकती थी, सदैव कथन किया करते थे और गरुड़जीने शिवजीके उपदेशसे उनके पास जाकर वही कथा श्रवण की थी। सतीजीके शरीर-त्यागके कारण उनसे वियोग हो जानेके कालमें एक बार श्रीशिवजीने भी नीलगिरिपर जाकर अपनेद्वारा प्रदत्त उस रामचरितमानसको सुना था और वे उसीका हवाला श्रीपार्वती-जीको दे रहे हैं कि 'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस विमल। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड़ ॥'

दूसरी बात यह है कि यद्यपि 'सिवा सन भाषा' और 'उमहि सुनावा' वाली दोनों चौपाइयाँ पहले पड़ी हैं; परन्तु काव्य-कुशल कविवर श्रीगोस्वामिपादने अपनी अद्भुत एवं अनुपम बुद्धिमत्तासे दोनोंमें दो शब्द ऐसे रख दिये हैं, जो कथन-क्रमको स्पष्टतया विलग कर देते हैं। पहली चौपाईमें 'पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा' के द्वारा यह सूचित किया गया है कि जब 'सुसमय' आया, तब उन्होंने अवसरके अनुकूल और प्रयोजनार्थ शिवासे कथन किया। इसी प्रकार दूसरी चौपाईमें 'बहुरि' शब्द देकर—'बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा'—यह संकेत किया गया है कि 'बहुरि' अर्थात् पुनः (सर्व-प्रथम नहीं) कृपा करके मोहनिवृत्तिके लिये उमाजीको यथावसर वह कथा सुनायी गयी।

अतएव सब वाक्योंका समन्वय होकर यह सिद्ध हुआ कि श्रीशिवजीने निजरचित रामचरितमानस श्रीकाकभुशुण्डिजीको महर्षि लोमशके द्वारा बहुत पहले ही प्रदान कर दिया था और श्रीपार्वती-जीको उन्होंने पीछे अवसर पाकर सुनाया।

४—भानुप्रताप शापके भागी क्यों बने ?

प्रश्न—'रामायणमें राजा भानुप्रतापका प्रसङ्ग पढ़नेपर ज्ञात होता है कि वे पहले बड़े बुद्धिमान्, ज्ञानी, धर्मनिष्ठ, परोपकार-रत और प्रजापालक नरेश थे। फिर एकाएक कठोर शापके भागी बनकर वे पतित क्यों हो गये ?'

उत्तर—प्रश्न ठीक है। राजा भानुप्रतापजीके प्रसङ्गको पढ़नेपर हमें अनेक उपदेश प्राप्त होते हैं। सबसे बड़ी शिक्षा यह मिलती है कि जबतक जीवकी लोकैषणा बिल्कुल नष्ट नहीं हो जाती, तबतक ऊँचे चढ़ जानेपर भी उसके पतनकी सम्भावना बनी रहती है तथा उसके

लिये शुभ कर्मोंका कर्तृत्वाभिमान भी अन्य प्रकारके अहङ्कारोंकी भाँति ही हानिकारक और भयङ्कर होता है। यदि कोई कहे कि यह सब कुछ होते हुए भी भानुप्रताप-जैसे सीधे और विश्वासपात्र राजापर कपटी मुनिकी कपटभरी चालसे शापादिका आक्रमण ठीक नहीं था तो इसका उत्तर यह है कि राजा भानुप्रतापने ही सर्वप्रथम कपटका आश्रय लिया था और वह भी एक संतके साथ, जो अत्यधिक अनर्थका हेतु होता है। राजा भानुप्रतापने, उस छली राजाके वास्तविक स्वरूपको न पहचानकर, उसे सच्चा साधु ही तो जाना था ! फिर उन्हें, मनसे माने हुए ही सही, उस साधुसे कपट करने और झूठ बोलनेकी क्या आवश्यकता थी ? उन्होंने तो उसके सामने अपनेको स्पष्टरूपसे छिपाया और कहा कि 'मैं राजा भानु-प्रतापका मन्त्री हूँ।' यथा—

नाम प्रतापभानु अवनीसा। तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा॥
फिरत अहेरें परेउँ भुलाई। बड़ें भाग देखेउँ पद आई॥

अतः जब राजा भानुप्रतापने संतसे कपट आरम्भ किया, तब उनके उस कपटका फल भी उन्हें प्राप्त हो गया—उनकी कपटभरी चाल ही उनको धोखेमें डालनेका कारण या उपाय बन गयी। उनके उसी झूठने उस छली राजा—कपटी मुनिको उनके भानुप्रताप होनेका विश्वास करनेके लिये अवसर दे दिया। और उसने कहा कि 'मैं अपने भजनके प्रतापसे जान गया हूँ कि राजा भानुप्रताप तुम्हीं हो।' इसपर राजा भानुप्रतापको और भी विश्वास हो गया कि 'हो न हो, ये महात्मा अवश्य हैं। मैंने अपनेको छिपाया, फिर भी ये मुझे पहचान गये।' फलतः राजा उस कपटी

मुनिके फंदेमें पड़ गये, उसके आचरण और कथनादिको सच्छास्त्रोंमें वर्णित संत-लक्षणोंसे मिलाये बिना ही उन्होंने उसको अपना गुरु मान लिया और तदनन्तर ब्राह्मणोंको भी युक्ति और छलके द्वारा अपने तावेमें कर लेनेका उपाय रचने लगे। फिर ऐसे अवैध और अयोग्य कर्मोंके फलस्वरूप राजा भानुप्रतापको शाप न मिलता तो और क्या उचित था? श्रीगोस्वामीजी महाराजने तो साफ-साफ कह दिया है कि—

तुलसी देखि सुबेपु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुंदर केकिहि पेखु बचन सुधा सम असन अहि॥

अतएव यह ठीक है कि राजा भानुप्रतापके पुण्यकर्मादि सचमुच सराहनीय थे; परन्तु उनमें जो भक्तिका बीज नहीं था, बल्कि उल्टे अपने कर्तव्योंका अहङ्कार था, इस कारण वे अपनी रक्षामें समर्थ न हो सके, फलतः उनकी दुर्गति हुई। प्रमाण देखिये—

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥

अतः राजा भानुप्रतापके शापग्रस्त होनेमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये!

सियावर रामचन्द्रकी जय!

५—क्या ब्राह्मण मांसाहारी थे ?

नृप हरषेउ पहिचानि गुरु भ्रम बस रहा न चेत ।
बरे तुरत सत सहस बर बिप्र कुटुंब समेत ॥

उपरोहित जेवनार बनाई । छरस चारि बिधि जसि श्रुति गाई ॥
मायामय तेहिं कीन्हि रसोई । बिंजन बहु गनि सकइ न कोई ॥
बिबिध मृगन्ह कर आमिष राँधा । तेहि महुँ बिप्र माँसु खल साँधा ॥
भोजन कहुँ सब बिप्र बोलाए । पद पखारि सादर बैठाए ॥
परुसन जबहिं लाग महिपाला । भै अकासबानी तेहि काला ॥
बिप्रबृंद उठि उठि गृह जाहू । है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू ॥
भयउ रसोईं भूसुर माँसू । सब द्विज उठे मानि बिस्वासू ॥
भूप बिकल मति मोहँ भुलानी । भावी बस न आव मुख बानी ॥

बोले बिप्र सकोप तब नहिं कछु कीन्ह बिचार।
जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार॥

'श्रीबालकाण्डके इस भानुप्रताप-प्रसङ्गके अन्तर्गत जो मृग-मांसके राँधनेकी बात लिखी है, उससे कुछ लोग शङ्का करते हैं कि प्राचीन कालमें ब्राह्मण मांसाहारी होते थे। आकाशवाणीमें 'भयउ रसोईं भूसुर माँसू' कहकर केवल ब्राह्मणके मांसका ही निषेध किया गया है; इससे भी अनुमान होता है कि ['बिबिध मृगन्ह कर आमिष राँधा'] उस समय ब्राह्मणोंमें मांसाहारकी प्रथा थी।'

इस शङ्काके समाधानमें श्रीमानसके मूल शब्दोंके आधारपर कुछ विचार उपस्थित किया जाता है।

इस प्रसङ्गमें सर्वप्रथम दो शब्दोंके अर्थपर ही विचार करनेसे उपर्युक्त शङ्का सर्वथा निर्मूल हो जाती है। पहला 'मायामय तेहिं कीन्हि रसोई' में 'मायामय' शब्द है, और दूसरा 'है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू' में 'अन्न' शब्द। रसोई 'मायामय' हुई थी। यहाँ 'मायामय' से क्या तात्पर्य है? यदि 'मायामय' शब्दसे यह भाव लिया जाय कि वहाँ सब झूठा खेल था, वस्तुतः कुछ भी नहीं बना था—जैसा राजाको शापके पश्चात् वहाँ जानेपर मालूम हुआ था कि 'तहँ न असन नहिं बिप्र सुआरा'—तो इससे—

'बिबिध मृगन्ह कर आमिष राँधा। तेहि महुँ बिप्र माँसु खल साँधा॥'

—अर्थात् अनेक प्रकारके जानवरोंका मांस पकाया गया और उसमें ब्राह्मणका मांस भी मिलाया गया था—यह बात मिथ्या हो

जाती है। और इसके मिथ्या होनेसे 'भयउ रसोईं भूसुर माँसू'— यह आकाशवाणी भी झूठी हो जायगी। तब 'मायामय' शब्दसे यहाँ क्या भाव लक्ष्य कराया गया है ? इसका पता 'है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू' इस आकाशवाणीके 'अन्न' शब्दसे मिल रहा है। अर्थात् 'मायामय' से यह तात्पर्य है कि रसोई बनायी गयी तो मांसकी ही थी, परन्तु उसमें ऐसी माया रच दी गयी थी कि वह देखनेमें 'अन्न' की रसोई प्रतीत होती थी। ऐसा कपटमय कार्य हुआ था कि रसोई मांसकी बनी और परसनेवाले राजा तथा भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको साफ अन्नके ही पदार्थ दीखते थे। इसी कारण धर्म-धुरन्धर राजा भानुप्रतापको भी उसके परसनेमें कोई शङ्का नहीं हुई तथा विप्रोंको भी अन्नके पदार्थ देखकर कोई संकोच या विपरीत भाव उत्पन्न न हुआ। बल्कि अन्नके पदार्थ जानकर वे सब उसे खानेके लिये तैयार थे। क्योंकि उस 'मायामय' कार्यके प्रभावसे वे ऐसे व्यामोहित हो गये थे कि किसीकी समझमें इस कपटका भेद नहीं खुल सका। परन्तु सर्वदर्शी सर्वान्तर्यामी भगवान्‌के सामने माया क्या कर सकती है ? भला, उनसे क्या छिप सकता है ? जब भगवान्‌ने देखा कि इस प्रकार धोखेमें ही इन विप्रोंका धर्म नष्ट हुआ चाहता है, (क्योंकि ये बेचारे इसे अन्न देख रहे हैं और यह वास्तवमें मांस है) तब—

परुसन जबहिं लाग महिपाला। भै अकासबानी तेहि काला॥
विप्रबृंद उठि उठि गृह जाहू। है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू॥
भयउ रसोईं भूसुर माँसू। × × × × ×॥

—इस प्रकार उस मायामय कपटसे बचानेके लिये आकाशवाणी हुई।

अब 'अन्न' शब्दसे यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण उसे अन्नकी रसोई ही जानकर खानेको तैयार हुए थे, न कि मांसकी रसोई। इसी प्रकार आकाशवाणीमें 'अन्न' शब्द आया है। यदि ब्राह्मण मृग-मांस खाते होते और केवल भूसुर-मांसका ही निषेध होता तो आकाशवाणी इस प्रकार होती कि, 'है बड़ि हानि मांस जनि खाहू ॥ भयउ रसोईं भूसुर मांसू ।—इत्यादि ।' परन्तु उस रसोईको आकाशवाणीमें 'मांस' न कहकर स्पष्टरूपसे 'अन्न' कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मणोंको यदि मृग-मांसकी प्रतीति होती तो वे रुष्ट होकर पहले ही शाप दे देते। राक्षसकी तो स्कीम ही और थी, उसने सोचा था कि 'रसोई परसनेके बाद जब ब्राह्मण भोजन आरम्भ करेंगे, तब हम अपनी माया समेट लेंगे और उनको अपने सामने मांस स्पष्ट दीखने लगेगा और वे कोप कर राजाको शाप दे देंगे। इस प्रकार ब्राह्मण भी भ्रष्ट हो जायँगे और राजाको भी शाप लग जायगा।' परन्तु भगवान्‌ने आकाशवाणीद्वारा ब्राह्मणोंको धर्मभ्रष्ट होनेसे बचा लिया।

राक्षसने भूसुरका मांस मृग-मांसमें इसलिये मिला दिया था कि निषेधकी पराकाष्ठा हो जाय; क्योंकि जब केवल मांसका ही निषेध है तो फिर विप्र-मांसका तो कहना ही क्या है? 'विविध मृगोंमें' गौ भी शामिल है। इसलिये उसने गौ और ब्राह्मणका मांस सम्मिलित करके निषेधका अन्त कर डाला था! और इसी निषेधकी पराकाष्ठाको सूचित करनेके लिये आकाशवाणीमें भूसुर-मांसकी सूचना दी गयी है—'भयउ रसोईं भूसुर माँसू।' यद्यपि रसोईमें विविध मृगोंका मांस ही अधिक था और उसमें भूसुर-मांस स्वल्प परिमाणमें मिलाया

गया था, तथापि आकाशवाणीमें केवल भूसुर-मांसकी ही चर्चा हुई थी। इसका कारण यह है कि भूसुर-मांसका भोजन सबसे अधिक जघन्य है, इसीलिये मुख्यका ही जिक्र किया गया। मुख्यके सामने गौणकी चर्चा भी क्यों की जाती ? इसीलिये आकाशवाणीमें 'भूसुर माँसू' शब्द कहकर और मांसोंको गौण सूचित किया गया है।

अब रही यह बात कि उस राक्षसने सीधे अन्नकी रसोई बना उसमें किञ्चित् मांस मिलाकर अपना कार्य सिद्ध करनेके बजाय सारी रसोई मृग-मांसकी ही क्यों तैयार की ? इसके दो मुख्य कारण हैं; एक तो यह कि यदि रसोईमें अन्नकी अधिकता होती और उसमें अल्प अंशमें मांसका मिश्रण होता तो माया हटानेपर भी मांसका स्पष्टरूपसे शीघ्र प्रत्यक्षीकरण नहीं होता और ब्राह्मण रुष्ट होकर शीघ्र शाप नहीं दे पाते। दूसरी बात यह है कि लाखों ब्राह्मणोंको कुटुम्बसहित भोजन देनेके लिये हजारों मन अन्नकी आवश्यकता होती और वह उस जंगलमें छिपकर रहनेवाले राक्षसके लिये दुष्प्राप्य ही था। यदि किसी नगरकी अनाजमंडीसे वह अनाज प्राप्त करता तो इस बातका भय था कि हुल्लड़ मच जानेसे गुप्त भेद खुल जायगा। इसीलिये उसने सुगम समझकर वन्य-पशुओंको मार-कर मांसकी ही सामग्रीसे रसोई तैयार की थी और उसे अधिक निषिद्ध बनानेके लिये विप्रतकका मांस उसमें मिला दिया था।

सारांश यह है कि राक्षसने अपनी मायासे मांसको अन्नके रूपमें ब्राह्मणोंके सामने रक्खा था और वह चाहता था कि ब्राह्मण जब भोजन करने लगेंगे तो मैं माया हटा लूँगा और वे मांसको

देखकर क्रोधित हो राजाको शाप दे देंगे । राक्षसने एक ही ढेलेसे दो पक्षी मारने अर्थात् ब्राह्मणोंको धर्मभ्रष्ट करने और राजाको शाप दिलानेका सङ्कल्प किया था । परन्तु धर्मरक्षक परमात्माने आकाशवाणी-द्वारा ब्राह्मणोंका धर्म बचा लिया ! अतएव इस प्रसङ्गसे ब्राह्मणोंका मांसाहारी होना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता । न तो ग्रन्थकार-का कोई ऐसा लक्ष्य यहाँ है और न प्रसङ्ग ही ऐसा है जिससे ब्राह्मणोंके ऊपर मांसाहारका आरोप किया जा सके । यहाँ तो प्रसङ्ग स्पष्ट है कि ब्राह्मण अन्नके भोजनके लिये ही निमन्त्रित थे और उन्हें अन्नकी प्रतीति हो, इसीलिये राक्षसने मायासे मांसको अन्नरूप-में प्रकट किया था तथा भगवान्ने भी आकाशवाणीद्वारा ब्राह्मणोंको मायाके कपट-जालको तोड़ते हुए कहा था कि—'है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू ।' इसलिये ब्राह्मणोंके ऊपर मांसाहारके आरोपकी शङ्का निर्मूल और अनुचित है । भला, जब कलियुगके धर्मनिष्ठ ब्राह्मण भी मांसके स्पर्शतकसे घृणा करते और उसे महानिषिद्ध समझते हैं तो त्रेतायुगके ब्राह्मण जो 'निज निज धरम निरत श्रुति रीती' के अनुसार वर्णाश्रम-धर्मके पालनमें ही अपना जीवन बिताते थे, इस प्रकारके कलुषित कर्म कैसे कर सकते थे ? उस समयके ब्राह्मणोंमें—

> शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
> ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
> (गीता १८ । ४२)

—यथार्थरूपसे वर्तमान था । उस समयके ब्राह्मणोंके लिये स्वप्नमें भी मांसाहारका अनुमान करना कुचेष्टामात्र है, उपर्युक्त प्रसङ्गमें कोई भी शब्द ब्राह्मणोंको मांसाहारी नहीं सिद्ध करता ।

६—क्या रामायणकालके क्षत्रिय नरेश मछली खाते थे ?

शङ्का—अयोध्याकाण्डमें 'मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने ॥' इस उक्तिके अनुसार निषादराजने जो भरतजीको बड़े, पुराने और मोटे-मोटे मत्स्य भेंट किये थे, उनका भरतजीने क्या किया ? वे किस काममें लाये गये ?

समाधान—निषादराजने भरतजीके भावकी परीक्षाके लिये सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकारकी भेंट सजायी थी। इससे वे यह देखना चाहते थे कि भरतजीको इनमेंसे जिस प्रकारके पदार्थ अधिक प्रिय होंगे, उन्हींसे उनकी प्रकृतिका पता चल जायगा। यथा—

लखब सनेहु सुभायँ सुहाएँ। बैरु प्रीति नहिं दुरइँ दुराएँ ॥

अस कहि भेंट सँजोवन लागे। कंद मूल फल खग मृग मागे॥
मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने॥

इनमें कन्द-मूल-फल सात्त्विक, खग-मृग राजस और मीन तामस पदार्थ हैं। जब यह भेंट लेकर निषादराज भरतजीके पास गये, तो भरतजीकी इनमेंसे किसीकी ओर दृष्टि नहीं गयी। बस,

राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥

यह सुनते ही कि ये निषादराज श्रीरघुनाथजीके सखा हैं, उन्होंने रथ छोड़ दिया और प्रेमानुरागमें डूबते हुए दौड़कर उन्हें हृदयसे लगा लिया। इस प्रकार निषादराजको उनमें तीनों गुणोंसे परे गुणातीत अवस्थाका प्रमाण मिला। श्रीभरतजीको तो रामसखा होनेके कारण निषादराज ही इष्ट हुए हैं, इसलिये उन भेंटमें आये हुए पदार्थोंके न तो ग्रहणकी चर्चा है और न बर्तनेकी ही। इस समय वे तो श्रीरामजीके प्रेममें छके हुए थे, वे इन संसारी पदार्थोंका उपभोग कैसे कर सकते थे? जब प्रयागराजमें भरद्वाज मुनिकी आज्ञारूप परमधर्मके बन्धनमें बँधकर भी उन्होंने उनके दिये हुए नाना प्रकारके भोगोंसे रात्रिमें चकवा और चकवीकी भाँति अलग रहकर अपने नियमको* निभाया तो यहाँ मीन आदिकी ओर ताकनेकी तो कल्पना भी कैसे की जा सकती है। बस, वे जैसी-की-तैसी वापस ही गयीं, भरतजीने तो उनकी ओर देखा भी नहीं।

---

* संपति चकई भरतु चक मुनि आयस खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखे भा भिनुसार॥

७–श्रीरामकी मृगयाका क्या रहस्य है ?

प्रश्न–भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी बाललीलाके प्रसङ्गमें यह चौपाई आयी है—

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई ॥
पावन मृग मारहिं जियँ जानी। दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी ॥

यहाँ यह शङ्का उठती है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अवतार तो संतों एवं पवित्र हृदयवालोंकी रक्षाके लिये हुआ था। फिर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी पावन मृगोंका शिकार क्यों करते थे ? और उन मारे हुए मृगोंको घर लाकर महाराज दशरथको दिखानेका क्या प्रयोजन था ?

उत्तर—प्रश्न ठीक है। परन्तु प्रश्न करते समय दूसरी अर्धालीके 'जियँ जानी' पदपर ध्यान देना चाहिये। 'पावन मृग'के साथ ही 'जियँ जानी' आया है। इसका यह अर्थ है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जिन मृगोंको पावन समझते थे, उन्हींका शिकार करते थे और फल यह होता था कि जो मृग श्रीराम-बाणसे मरते थे, वे अपना पशु-शरीर छोड़कर स्वर्गलोक सिधार जाते थे। यथा—

जे मृग राम बान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥

अतः इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको जिन पवित्रात्मा मृगोंका उद्धार करना था, जो किसी शाप या वरके कारण मृग-योनिको प्राप्त होकर श्रीरामावतारके द्वारा मुक्त होनेकी बाट जोह रहे थे, उन्हींको पहचान-पहचानकर मृगयालीलाके बहाने श्रीरामजी मारते और तारते थे। 'पावन मृग' और 'जियँ जानी' का यही रहस्य है।

मारे हुए मृगोंको महाराज दशरथको दिखानेका कारण केवल श्रीरामजीकी माधुर्य-लीला थी। वे नरवत् चरित्र करके श्रीपिताजीके सामने अपनी वीरता और मृगया-कुशलताका प्रमाण दिखाते थे कि मैंने साधारण हरिणोंसे लेकर बड़े-बड़े भयङ्कर जन्तुओं—जैसे व्याघ्र, सिंह, रीछ आदिका शिकार कर डाला है! इससे चक्रवर्ती श्री-दशरथजीको परम आह्लादकी प्राप्ति होती थी, वे अपने प्राणाधिक पुत्रकी लीलाएँ देखकर फूले नहीं समाते थे। इसके अतिरिक्त उन मारे हुए मृगोंको घर लानेका और कोई प्रयोजन नहीं था।

८–दस हजार राजा एक ही साथ धनुषमें कैसे लगे ?

शङ्का–

भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥

दस हजार राजा एक साथ ही कैसे धनुष उठाने लगे ? क्या उस समयके राजा चूहे, चींटे या मच्छर थे, जिनके बीस हजार हाथ धनुषमें लग सकते थे ?

समाधान–इस शङ्काका समाधान श्रीग्रन्थकारने इस दोहेमें रख दिया है—

तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठइ न चलहिं लजाइ।
मनहुँ पाइ भट बाहुबलु अधिकु अधिकु गरुआइ॥

—इस दोहेके नीचे ही यह चौपाई है—

भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥

तात्पर्य यह कि जिस समय वंदीगणने श्रीविदेहजीका प्रण सुना दिया; उस समय शूरताके अभिमानी मूढ़ नृप कमर बाँधकर अकुला उठे। उनको यह खयाल हुआ कि हमसे पहले कोई दूसरा न तोड़ डाले और इसलिये वे दौड़-दौड़कर धनुषमें लगने लगे। उस समय किसीको कोई कैसे कहे कि तुम ठहर जाओ और कहनेपर वह कब मानने लगा; क्योंकि वहाँ तो उन मूढ़ोंको अपनी-अपनी पड़ी थी।

जिन्ह के कछु बिचारु मन माहीं। चाप समीप महीप न जाहीं॥

—जो कुछ भी विचार रखते थे वे राजा तो धनुषके नजदीक भी नहीं गये;

'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप'

—विचारहीन मूढ़ राजा ही धनुषको दौड़कर पकड़ते थे। और उस समय वह शिवजीका दिव्य धनुष क्या लीला दिखाता था ? वह ज्यों-ज्यों 'भटबाहु' पाता था, त्यों-त्यों अधिकु अधिकु (बड़ा-बड़ा) होता जाता था, और ज्यों-ज्यों तोड़नेके लिये उसपर राजालोग 'बल' लगाते थे, त्यों-ही-त्यों वह उनका बल पा-पाकर गरुआ (भारी) होता जाता था। अर्थात् दोहेमें जो दो शब्द 'बाहु' और 'बलु' आये हैं, इनका अर्थ 'बाहुका बल' न करके अलग-अलग 'बाहु' और 'बल' कीजिये। और इसी प्रकार धनुषके लिये जो दो शब्द 'अधिकु अधिकु' और 'गरुआइ' आये हैं, इनको भी मिला न दीजिये। फिर देखिये यह स्पष्ट क्रम बना हुआ है कि 'भटबाहु पाइ' धनुष 'अधिकु अधिकु' बढ़ता जाता था (अर्थात् उन्हें जगह देता जाता था कि जितने चाहो उतने इकट्ठे लग लो, टूटना तो हमें श्रीरामजीके हाथ है) और 'भट बलु पाइ' (तात्पर्य, जब तोड़नेके लिये जोर करते थे तब) 'धनु गरुआइ' (अर्थात् उनका बल खींच लेता था और भारी होता जाता था।) इसी भावपर आगे श्रीजनकनन्दिनीजीके दिव्य धनुषकी इस प्रकार प्रार्थना करनेका वर्णन है कि—

अब मोहि संभु चाप गति तोरी ॥
निज जड़ता लोगन्ह पर डारी । होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी ॥

अर्थात् जिन-जिन मूढ़ (जड) राजाओंसे बल ले-लेकर तुमने अपनी गुरुता बढ़ा ली है, कृपा करके उन्हीं जडोंपर अपनी उस

जडताको डाल दो तथा श्रीरामचन्द्रजीके कोमल कर-कमलों और उनकी कोमलाङ्गताको देखकर हल्के हो जाओ । इस प्रकार राजाओं-की बाँहोंको जगह देनेके लिये तो धनुष समयानुसार बढ़ता था; परन्तु जब श्रीरामजी उसके पास तोड़नेके लिये गये तो वह विशाल धनुष सिमिटकर छोटा हो गया। इस बातका स्पष्ट प्रमाण श्रीतुलसी-कृत रामगीतावलीके बालकाण्डके पद सं० ९२ में मिलता है——

मुनि पद रेनु रघुनाथ माथे धरी है।
दाहिनो दियो पिनाक सहमि भयो मनाकु
महाब्याल बिकल बिलोकि जनु जरी है।

अर्थात् श्रीरघुनाथजीने जाकर उस दिव्यशक्ति शिवधनुषको पहले दाहिना दिया, अर्थात् उसकी परिक्रमा की। परिक्रमा करते ही वह धनुष इस प्रकार सहमकर 'मनाकु' अर्थात् सिकुड़कर छोटा हो गया जिस प्रकार महाव्याल——बड़ा भारी सर्प, जो अपने शरीरको फैलाये रहता है, सँपेरोंके द्वारा जंगली बिरई जड़ी दिखाते ही सिकुड़कर बटुर जाता है। इस प्रकार उस दिव्य शिवधनुमें गरुअ, हरुअ (भारी और हल्का) होनेकी तथा बढ़ने-घटनेकी शक्तिका होना प्रमाणित होता है। अतः उपर्युक्त अर्थ जो मूल दोहेका किया गया है, वही यथार्थ सिद्ध होता है। दोहेमें 'मनहुँ' शब्द इसीलिये लाया गया है कि मानो ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों बाँहें लगती जाती हैं, त्यों-त्यों धनुष बढ़ता जाता है; नहीं तो इतने सहस्र राजाओंके पकड़नेकी जगह कहाँसे मिल जाती, पहले तो वह इतना बड़ा नहीं दीखता था।

और भी बहुत-से प्रमाण धनुषकी दिव्यता और चेतनताके

विषयमें ग्रन्थोंमें मौजूद हैं। कवितावलीमें जो 'बारे तें पुरारि ही पढ़ायो है' पङ्क्ति आयी है, वह इसी भावकी द्योतक है कि माने शिवजीने अपने धनुषको बालपनमें ही पढ़ा दिया था कि श्रीरामीजीके ही हाथसे टूटना; अतएव दिव्य पदार्थोंमें चेतनता माननी ही पड़ेगी।

उतरि कहेउ प्रभु पुष्पकहि तुम्ह कुबेर पहिं जाहु।
प्रेरित राम चलेउ सो हरषु बिरहु अति ताहु॥

—इसके द्वारा पुष्पक विमानकी चेतनता प्रकट की गयी है। इसी तरह श्रीसीताजीसे सहिदानीकी मुद्रिकाने बातचीत की थी। रामगीतावलीके सुन्दरकाण्डके पद सं० २२२ में वर्णन है—

किया सीय प्रबोध मुँदरी दियो कपिहि लखाउ।

इत्यादि।

फिर वह शिवधनुष तो शिवरूप ही था। श्रीजनकजी उस दिव्यायुधका नित्य पूजन करते थे। अतएव उस धनुषमें जब दिव्यता थी, तब उसके घटने-बढ़नेके विषयमें शङ्का करना व्यर्थ है। अतएव उस समयके राजाओंको चूहे, चींटे या मच्छर माननेकी आवश्यकता नहीं है। यह भगवान् शिवके दिव्य धनुषकी विशाल महिमाको सूचित करनेवाली श्रीगोस्वामिपाददारा रचित सत्य-सत्य और यथार्थ चौपाई है कि—

भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥

९–लक्ष्मणजी ब्रह्माण्डको उठा लेते तो स्वयं कहाँ रहते और कहाँ पटककर फोड़ते ?

शङ्का–

जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥

अगर लक्ष्मणजी ब्रह्माण्ड उठा लेते तो फिर स्वयं कहाँ रहते ?

काचे घट जिमि डारौं फोरी।

ब्रह्माण्ड तो हाथमें, खड़े कहीं नहीं, फिर पटकते कहाँ ? ब्रह्माण्डसे बाहर कोई स्थान नहीं है।

समाधान–इस शङ्काका समाधान उन्हीं प्रसङ्गोंमें ग्रन्थमें दिया हुआ है—

लखन लखेउ रघुबंसमनि ताकेउ हर कोदंडु।
पुलकि गात बोले बचन चरन चापि ब्रह्मांडु॥
दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥
राम चहहिं संकर धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥

विचार करनेकी बात है कि श्रीलखनलालजी इन लोगोंको 'आयसु' (आज्ञा) देनेवाले कौन हैं ? क्या किसी मनुष्य युवककी आज्ञाका पालन दिग्गज, कमठ, शेष और वराह कर सकते हैं, जिनके आधारपर पृथ्वी टिकी हुई है ? तब आपको मानना ही पड़ेगा कि—

जो सहससीसु अहीसु महिधरु लखनु सचराचर धनी।
सुर काज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी॥

(अवधकाण्ड छन्द ५)

अतः जब यह सिद्ध हो गया कि श्रीलखनलालजी साक्षात्

शेषके—श्रीमन्नारायण परमप्रभु जो उभयविभूतिनाथ हैं, उनकी शय्या-के ही अवतार हैं तो अखिल-ब्रह्माण्डेश्वरके लिये एक ब्रह्माण्डको उठा लेने और नष्ट कर डालनेमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है ? उन भगवान् शेषके तो एक फणपर सारा ब्रह्माण्ड रजकणकी भाँति विराज रहा है—

ब्रह्मांड भवन बिराज जाकें एक सिर जिमि रज कनी ।
तेहि चह उठावन मूढ़ रावन जान नहिं त्रिभुअन धनी ॥

(लङ्काकाण्ड)

अब रही इस कुतर्ककी बात कि शेषजी कहाँ खड़े होकर ब्रह्माण्डको उठाते, और कहाँ पटककर उसे फोड़ते ? मानो ब्रह्माण्डको फोड़नेके लिये उसे किसी शिलापर पटकनेकी ही आवश्यकता है । जिन्हें ब्रह्माण्ड उठानेपर रजकण-सा प्रतीत होता है, क्या उनके लिये उसे बिना कहीं पटके फोड़ना असम्भव है ? इन बातोंके निश्चित समाधानका यही मार्ग है कि जिनके अंदर यह ऐश्वर्य पाया जा रहा है, चुपचाप उन्हींकी शरण लेकर उनका ही भजन किया जाय; तभी 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई' जानना सम्भव है, नहीं तो 'तुलसिदास यह चिद विलास जग बूझत बूझत बूझै ॥' जिन शेषकी केवल एक फुंकारसे प्रलयकालमें सारा ब्रह्माण्ड भस्मीभूत हो जाता है, उनके सम्बन्धमें भला ऐसी तर्कें ? हाँ, 'रघुपति भगति बारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझैं' यह अवलम्ब बतलाया गया है। अतः श्रीमानसके प्रेमी पाठकों और प्रश्नकर्ताओंको इस प्रपत्तिपरक ग्रन्थका इष्टरूपसे सेवन करना चाहिये; तब यह उनके कल्याणका कारण हो जायगा और सब प्रकारकी शङ्काओंका यही स्वयं निवारण कर देगा ।

१०—क्या लक्ष्मणजी धनुष तोड़कर सीताजीसे विवाह करना चाहते थे ?

शङ्का—जब श्रीमिथिलापुरीके धनुषयज्ञमें सभी 'भट-मानी' भूपोंका मान-मर्दन हो चुका तथा श्रीजनकजीने भरी सभामें पश्चात्ताप प्रकट करते हुए 'बीर बिहीन मही मैं जानी' तक कह डाला, तब श्रीलक्ष्मणजीसे सहन नहीं हो सका। वे श्रीजनकजीको उचित उत्तर देते हुए शिव-धनुष तोड़नेके लिये स्वयं तैयार हो गये। उन्होंने श्रीरघुनाथजीसे आज्ञा भी माँगी; परन्तु आज्ञा नहीं मिली और इसी कारण उन्हें रुक जाना पड़ा। यह अनुचित कार्य श्रीलक्ष्मण-जीके लिये कहाँतक उचित माना जा सकता है ? क्योंकि वे तो श्रीसीताजीको माता और श्रीरामजीको पिता मानते थे। उनकी इस निष्ठाका प्रमाण श्रीगीतावलीकी पदसंख्या ८५ के निम्नलिखित अंशसे स्पष्टरूपमें मिलता है—

> मेरो अनुचित न कहत लरिकाई बस
> पन परमिति और भाँति सुनि गई है।
> नतरु प्रभु प्रताप उतरु चढ़ाय चाप
> देतो पै देखाइ बल, फल पापमई है।

अर्थात् श्रीलखनलालजी कहते हैं कि 'बड़ोंके आगे मेरा बोलना

तो अनुचित है परन्तु लड़काई कर रहा हूँ। इस धनुष-भङ्गकी प्रतिज्ञा कुछ और ही प्रकारकी सुनी गयी है—इसको जो तोड़े वही श्रीजानकीजीको ब्याहेगा; अतः ऐसी दशामें यदि मैं इस धनुषको तोड़ता हूँ तो उसका फल मुझको पापमय ही मिलेगा, क्योंकि मैं तो श्रीजानकीजीमें माताकी निष्ठा रखता हूँ। नहीं तो श्रीप्रभुके प्रतापसे पहले धनुषको चढ़ा लेता और तब बल दिखानेके पीछे जनकजीको उत्तर देता।' इसके अतिरिक्त जब साधारण साधु राजाओंकी—

'जगदंबा जानहु जियँ सीता'
'जगत पिता रघुपतिहि बिचारी'

—इस प्रकारकी धारणाएँ थीं, तब श्रीलक्ष्मणजीसे ऐसी भूलका हो जाना कुछ कम आश्चर्यकी बात नहीं है। यहाँतक कि जब—

जिन्ह के कछु बिचारु मन माहीं। चाप समीप महीप न जाहीं॥

—ऐसी बात थी, तब श्रीलक्ष्मणजी-सरीखे विचारसिन्धु साक्षात् शेषावतार और श्रीरामानुजके लिये शिव-धनुष तोड़कर श्रीजानकीजीसे विवाहसम्बन्ध-जैसा महान् अनुचित कार्य करना पड़ेगा—इस बातका मनमें भय न लाना कैसे सम्भव कहा जा सकता है?

समाधान—यह बिल्कुल उल्टी बात है। श्रीलक्ष्मणजीने ऐसी इच्छा कदापि नहीं की थी कि 'मैं धनुष तोड़कर श्रीजनककी प्रतिज्ञा पूरी करूँ' और न इसके लिये उन्होंने श्रीरघुनाथजीसे कभी आज्ञा ही माँगी थी। श्रीरामचरितमानसके तत्त्वज्ञ प्रेमी जन कृपया विचार

करें कि उस प्रसङ्गकी मूल चौपाइयोंसे कैसा भाव निकलता है । मूल चौपाइयाँ ये हैं—

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहिं समाज अस कहइ न कोई ॥
कही जनक जसि अनुचित बानी । बिद्यमान रघुकुल मनि जानी ॥
सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू ॥
जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं । कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं ॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी । सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी ॥
तव प्रताप महिमा भगवाना । को बापुरो पिनाक पुराना ॥
नाथ जानि अस आयसु होऊ । कौतुकु करौं बिलोकिअ सोऊ ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं । जोजन सत प्रमान लै धावौं ॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ ॥

इनका सरलार्थ इस प्रकार है—श्रीलखनलालजी कहते हैं कि 'इस सभामें रघुकुलमणि श्रीरघुनाथजीको साक्षात् मौजूद देखते हुए श्रीजनकजीने जैसा अनुचित वचन ('बीर बिहीन मही मैं जानी') कह डाला है, ऐसे अनुचित वचन किसी समाजमें एक भी रघुवंशी व्यक्तिको उपस्थित देखकर कोई भी नहीं कह सकता । सूर्यवंश-रूपी कमलके सूर्य श्रीरघुनाथजी ! मैं आपके सामने निरभिमान होकर अपना सहज बल बतला रहा हूँ । यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं सारे ब्रह्माण्डको गेंदकी तरह उठा लूँ और उसे कच्चे घड़ेकी भाँति फोड़कर चूर-चूर कर दूँ । मैं मेरुपर्वतको भी मूलीकी भाँति विना परिश्रम तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर सकता हूँ । फिर भला, आपके प्रताप और महिमाके आगे यह बेचारा पुराना धनुष क्या हस्ती रखता है ? (तात्पर्य यह कि जब मैं आपका अंशभूत अनुचर

होकर इतनी सामर्थ्य रखता हूँ) तब आपके प्रताप और महिमाके आगे यह धनुष क्या चीज है, जो इसको तोड़नेमें आप इतना विलम्ब कर रहे हैं और जिसके कारण जनकजीके मुखसे ऐसी-ऐसी असह्य बातें सुननी पड़ रही हैं! प्रभो! अब आप शीघ्र ही यह धनुष तोड़कर श्रीजनकजीकी प्रतिज्ञा पूरी करें; क्योंकि उनकी विवाह-विषयक प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेका विरद और अधिकार श्रीसरकारको ही है। हाँ, यदि आपको कौतुकमात्र कराना हो तो केवल खेलके रूपमें, जिससे कि श्रीजनकजीकी प्रतिज्ञा अथवा उनकी शर्तोंका कोई सम्बन्ध न रह जाय, यदि मुझे आज्ञा हो तो मैं ही केवल कौतुकमात्र करके दिखा दूँ। मेरे उस खेलको आप आनन्द-सहित देख लें कि मैं किस प्रकार इस चापको कमलके मुलायम डंठलकी तरह बिना परिश्रमके लचकाकर चढ़ा देता हूँ। मैं इसको लेकर सौ योजनतक दौड़ा हुआ जा सकता हूँ तथा बरसाती छतरी (पानी बरसनेपर पृथ्वीसे जो कोमल छत्राकार अङ्कुर उगा करते हैं) की भाँति सहजमें ही तोड़-मरोड़कर फेंक सकता हूँ। परन्तु नाथ! यह सब खेल आपके ही प्रताप-बलसे होगा। यदि मैं ऐसा करके न दिखा दूँ तो प्रभुके इन चरणोंकी ही शपथ खाकर कहता हूँ कि फिर कभी हाथमें धनुष धारण ही न करूँगा।'

भावार्थ यह है कि श्रीलक्ष्मणजी अपने इन वीर-वचनोंद्वारा एक ओर तो श्रीजनकजी आदि मिथिलावासियोंको तथा अन्य समस्त समाजको यह बोध करा रहे हैं कि जब श्रीरामजीके छोटे भाईमें यह सामर्थ्य है, तब उनके द्वारा धनुषके टूटनेमें सन्देह ही क्या है। और दूसरी ओर श्रीरघुनाथजीसे यह ऐश्वर्य-सूचक प्रार्थना कर रहे हैं कि

'मैं तो आपका अंशभूत शेष हूँ (इस कथनसे वे 'अनुशासन पानेपर मैं अपने फणपर रक्खे हुए ब्रह्माण्डको भी लय कर सकता हूँ' अपनी लय इस शक्तिकी ओर भी सङ्केत करा रहे हैं) । जगज्जननी श्रीलक्ष्मी—सीताजीको ब्याहनेकी शर्त जिस धनुषके साथ लगी हुई है, उसे तोड़कर श्रीजनकजीकी प्रतिज्ञापूर्ति तो श्रीमन्नारायणस्वरूप आपसे ही सिद्ध है ।' इसके अलावा 'तव प्रताप महिमा भगवाना'—इन शब्दों-के द्वारा, 'भगवान्‌के' शब्दसे भगवान्‌के अवतारी स्वरूपको सूचित करके, पूर्वनिवेदित प्रातःकालकी प्रार्थना—

रबि निज उदय ब्याज रघुराया । प्रभु प्रतापु सब नृपन्ह दिखाया ॥

—के 'प्रताप' और—

तव भुज बल महिमा उदघाटी । प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी ॥

—के 'महिमा'—इन शब्दोंके वाच्यार्थको लक्षित कराके एवं 'को बापुरो पिनाक पुराना' कहकर श्रीलक्ष्मणजीने यह अभिलाषा प्रकट की है कि 'विवाहकी सम्पन्नताके लिये शीघ्रातिशीघ्र श्रीप्रभुके ही हाथसे धनुष टूटना चाहिये ।' अपनेको तो वे केवल 'कौतुक' के ही योग्य समझते हैं और 'कौतुकु करौं बिलोकिअ सोऊ' कहकर यह दरसा रहे हैं कि 'केवल खेल-तमाशा देखना हो तो मैं उसे दिखा सकता हूँ; प्रतिज्ञाको पूरा करना तो मेरे लिये सरासर अनर्थ और अनाचार होते हुए असम्भव भी है; क्योंकि वह अधिकार स्वामीको ही है, सेवकको नहीं । श्रीस्वामिनीसे स्वामीका ही अखण्ड सम्बन्ध है, सेवक तो पुत्ररूप है ।' अस्तु, इन्हीं बातोंके कारण श्रीरघुनाथजीने कौतुकरूपमें भी लखनलालको धनुष तोड़नेकी आज्ञा नहीं दी । श्रीरघुनाथजीके लिये श्रीजनककी प्रतिज्ञा पूर्ण करके

श्रीसीताजीको स्वीकार करना अनिवार्य था। यदि प्रभु श्रीलखन-लालद्वारा खेलमें ही धनुष तुड़वा डालते तो फिर वे किस धनुषको तोड़कर प्रतिज्ञा पूरी करते ?

अब यदि यह प्रश्न उठे कि श्रीलखनलालजीने 'कौतुक करौं' इतना भी कहनेका साहस क्यों किया, तो उसका एक कारण तो यह है कि यदि वे धनुषका नाम न लेकर केवल ब्रह्माण्ड और मेरु-को ही फोड़ने-तोड़नेकी बात कहकर रह जाते तो सुननेवाले लोग शङ्कित होते कि 'जब ये सब कुछ कर लेनेको कहते हैं, तब धनुष-भङ्गकी चर्चा क्यों नहीं करते ?' और दूसरा कारण यह है कि श्रीरामजीको कौतुक बहुत भाता है। वे स्वयं 'कौतुकनिधि कृपाल भगवाना' हैं तथा अनेकविध कौतुक किया करते हैं। यथा—

'तेहि कौतुक कर मरम न काहूँ। जाना अनुज न मातु पिताहूँ ॥'
'कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी।'

अतएव यह जान लेना चाहिये कि श्रीलखनलालने कदापि इस इच्छासे धनुष तोड़नेकी आज्ञा नहीं माँगी थी कि 'मैं ही धनुष तोड़कर श्रीजनककी प्रतिज्ञा पूरी कर दूँगा।' बल्कि स्पष्टरूपसे उनका तात्पर्य यही था कि 'नाथ! धनुषभङ्गकी प्रतिज्ञा तो आप ही पूरी कर सकते हैं, इसलिये आप उसे शीघ्र पूरी कर दें। यदि कौतुक कराना चाहें तो अलबत्ता मुझे आज्ञा दें, ताकि कौतुकरूपमें मैं धनुष तोड़कर जनकजीको यह प्रमाणित करके दिखा दूँ कि यह पृथ्वी वीरोंसे खाली नहीं है।'

सियावर रामचन्द्रकी जय !

११–गुरु और भाईकी आज्ञाके बिना लक्ष्मणजी बीचमें क्यों बोल उठे ?

शङ्का–

कही जनक जसि अनुचित बानी । बिद्यमान रघुकुल मनि जानी ॥

एक सभ्य कुलके राजकुमार और रामचन्द्रजीके भाई अपने भ्राता (श्रीराम) को तो आदरसूचक शब्दोंसे सम्बोधित करते हैं, परन्तु भरी सभामें विदेहराजको केवल 'जनक' कहकर सम्बोधित करते हैं; उस समय कोई भी उन्हें मना नहीं करता। इसी तरह परशुराम-संवादमें भी पहले-पहल कड़े शब्दका प्रयोग करने-पर कोई नहीं बोलता; परन्तु जहाँ—

मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े । द्विज देवता घरहि के बाढ़े ॥

—यह कहते हैं, तब सारी सभा अनुचित कहने लगती है। फिर विना गुरु या भाईकी आज्ञाके लक्ष्मणजीके बीचमें बोलनेकी क्या आवश्यकता थी ?

समाधान–इस शङ्काका समाधान भी वहीं मौजूद है—

कही जनक जसि अनुचित बानी । बिद्यमान रघुकुल मनि जानी ॥

यह रघुकुलमणि श्रीरामजी लखनलालके कौन हैं ? केवल भाई ही नहीं हैं, वल्कि—

बारेहि ते निज हित पति जानी । लछिमन राम चरन रति मानी ॥

—वनयात्राके समय वह नाता भलीभाँति स्पष्ट किया गया है कि-

मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥

अतः सच्चा सेवक अपने प्रभुकी न्यूनता भला कब सह सक है? श्रीजनकजीने 'बीर बिहीन मही' कहकर जब श्रीरामजी निरादर किया तो उस समय जो सेवक 'रदपट फरकत नयन रिसौं दशाको प्राप्त था, वह जनकजीका आदर करेगा? क्या स्वामिनिन्दक को प्रतिष्ठा देना सेवकका धर्म है? गुरुवर वसिष्ठजीको तथा बड़े भ भरतको तो उन्होंने रामजीसे विरोधाभासके कारण कुछ समझा नहीं, फिर उनके आगे जनककी कौन गिनती थी? अतः वह अनुचि कथनका शासन था, उसे कोई क्यों मने करता? किसीको बुरा भी नहीं लगा, बल्कि उससे सभी बुद्धिमानोंको हर्ष प्राप्त हुअ स्वयं जनकजी भी अपनी गलतीपर सकुचा गये। रही यह शङ्का उन्हें बिना आज्ञा बीचमें बोलनेकी क्या आवश्यकता थी; इस समाधान यही है कि वह सेवकका धर्म था, वैसा न करना अपचार होता। और जहाँपर 'अनुचित कहि सब लोग पुकारे' वहाँ श्रीलखनलालजीसे क्रोधावेशकी लीलामें अनुचित हो रहा क्योंकि 'द्विज देवता घरहि के बाढ़े' कहनेमें सुर और महिसुर दो की असूया हो रही थी, जिनके विषयमें पहले स्वयं लखनलालजी क चुके हैं कि—

सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरें कुल इन्ह पर न सुराई॥

अतः जहाँ अनुचित हुआ वहाँ रोके गये। इसलिये स प्रसङ्ग यथार्थ हैं।
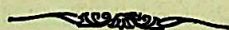
१२—सीताहरणके समय लक्ष्मणजीका क्रोध कहाँ गया था ?

शङ्का—

लखन सकोप बचन जे बोले । डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥

जब लक्ष्मणजीके क्रोधसे पृथ्वी काँपने लगी और दिग्गज डोलने लगे तो फिर जिस समय रावण सीताजीको हर ले गया था या युद्धमें जब बाण लगनेसे इन्हें मूर्च्छा आ गयी थी, उस समय इनका क्रोध कहाँ चला गया था ?

समाधान—इस शङ्काका समाधान भी उसी प्रसङ्गमें ग्रन्थके भीतर ही दिया हुआ है । जब रावण सीताजीको हर ले गया तो—

लछिमनहूँ यह मरमु न जाना । जो कछु चरित रचा भगवाना ॥

क्योंकि—

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई । करै अन्यथा अस नहिं कोई ॥

जिस लीलाको जिस भाँति श्रीरघुनाथजी दिखाना चाहेंगे, वह उसी भाँति होगी । श्रीलक्ष्मणजीमें जो शक्ति ब्रह्माण्डको डगमगा देनेकी या दिग्गजोंको डुला देनेकी है, वह श्रीरामजीद्वारा ही प्रदत्त है; क्योंकि शेषमें जो कुछ चमत्कार है, वह शेषीकी ही विभूति है । अतः श्रीरघुनाथजीकी माधुर्य-लीलामें श्रीलखनलालका भी माधुर्य प्रकट हो जाता था और ऐश्वर्य-लीलामें उनका भी ऐश्वर्य ही झलकता था । जैसे मेघनादद्वारा शक्ति लगनेपर मूर्च्छाकी वह पराकाष्ठा रही कि धवलागिरिसे जब ओषधि आयी, तब वह सचेत हुए, और उन्हीं लखनलालने रावणद्वारा शक्ति लगनेपर श्रीरघुनाथजीद्वारा केवल इतना ही स्मरण करानेपर कि 'लखनलाल ! तुम तो कालको भी भक्षण

करनेवाले हो', शक्तिको आकाशमें भेज दिया और स्वयं धनुष बाण लेकर रणभूमिमें जा रावणको ही मूर्च्छित करके लङ्का भिजवा दिया ! यथा—

कह रघुबीर समुझु जियँ भ्राता। तुम्ह कृतांत भच्छक सुर त्राता ॥
सुनत बचन उठि बैठ कृपाला। गई गगन सो सकति कराला ॥
पुनि कोदंड बान गहि धाए। रिपु सन्मुख अति आतुर आए ॥

आतुर बहोरि बिभंजि स्यंदन सूत हति ब्याकुल कियो।
गिर्‍यो धरनि दसकंधर बिकलतर बान सत बेध्यो हियो ॥
सारथी दूसर घालि रथ तेहि तुरत लंका लै गयो।
रघुबीर बंधु प्रताप पुंज बहोरि प्रभु चरनन्हि नयो ॥

इसलिये ये श्रीरामजीकी नरलीलाके खेल हैं—

उमा करत रघुपति नरलीला। खेलत गरुड़ जिमि अहिगन मीला ॥

यह लीलावैचित्र्य ही रणशोभा है, जिसमें कभी हारके और कभी जीतके लक्षण प्रकट होते रहें—

'रन सोभा लगि प्रभुहिं बँधायो'

स्वयं व्यापक ब्रह्म ही 'ब्याल पास बस भए खरारी', तब लखनलालकी कौन कहे ?

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति ॥

इन्हीं मधुर चरित्रोंने गरुड़ और सती-सरीखी आत्माओंको मोहमें डाल दिया। अतः मानसप्रेमियोंको इन शङ्काओंसे बहुत सचेत रहना चाहिये।

१३–विवाहके समय सीताजी रामके चरणोंका स्पर्श क्यों नहीं करतीं ?

गौतम तिय गति सुरति करि नहिं परसति पग पानि ।
मन बिहसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि ॥
(तुलसी० रामा० बाल०)

उपर्युक्त दोहेके अर्थमें बड़ा मतभेद है ।

(१) कोई महाशय 'गौतम तिय गति सुरति करि' का भाव यह बताते हैं कि श्रीजानकीजी मनमें सोचती हैं कि पत्थरसे स्त्री बना देना श्रीरामजीके चरणोंका गुण है, कहीं प्रणाम करते समय मेरे हाथोंके पाषाणजटित आभूषणोंसे इन चरणोंका स्पर्श हो गया तो सब पाषाण (मणि-माणिक आदि) स्त्रियाँ होकर मेरी सौत बन-बनकर मुझसे सौतियाडाह करने लगेंगी ।

(२) कोई महानुभाव 'नहिं परसति पग पानि' का कारण यह बतलाते हैं कि श्रीजानकीजी श्रीरामजीको मानो यह याद दिला रही हैं कि आप एकपत्नीव्रती हैं और एक स्त्रीसे आप चरण-स्पर्श करवा चुके हैं, अब मैं आपके चरण कैसे स्पर्श करूँ ?

(३) कोई भावुक कहते हैं कि अहल्या इन पदोंको छूकर न जाने कहाँ-की-कहाँ चली गयी ! इसी भयसे श्रीसीताजी चरणोंको नहीं छूतीं कि न जाने मैं भी इनको छूनेसे कहाँ जा पहुँचूँगी ।

(४) एक अर्थवेत्ताने यह अर्थ किया है—'गौ-तम' 'गौ' और 'तम'—इन दो पदोंसे बना है । 'तम' नाम अन्धकारका है, वह गौ अर्थात् गया (जाता रहा) । तब 'तिय-गति' का स्मरण किया कि 'टूटतहीं धनु भयउ बिबाहू'—मैं इनकी स्त्री हो चुकी, अतः बड़ोंके सामने क्या चरण-स्पर्श करूँ ?

इसी प्रकार अनेक विभिन्न भाव सुननेमें आते हैं; परन्तु जबतक किसी अर्थसे श्रीजानकीजीके हृदयमें 'अलौकिक प्रीति' का होना साबित नहीं होता, तबतक कोई भाव (अर्थ) मूलपदसे कैसे सुसंगत माना जा सकता है ? उपर्युक्त चारों भावोंको देखनेसे प्रतीत होता है कि—

(१) 'पत्थरसे स्त्री बननेके भयमें' हृदयमें प्रीतिकी जगह चिन्ता सूचित होती है ।

(२) 'एक-पत्नी-व्रतके खण्डित होनेमें' तो उससे भी बढ़कर शोकका अवसर उपस्थित हो जाता है, जिसका निवारण ही नहीं हो सकता ।

(३) उड़कर कहाँ-की-कहाँ जा पहुँचनेमें भी चिन्ता ही सूचित होती है, प्रीति नहीं ।

(४) गौ और तमका उपर्युक्त ढंगसे पदच्छेद करना कहाँतक

उचित है, इसे पाठक स्वयं विचार सकते हैं। इससे तो अहल्याका प्रसङ्ग ही उड़ जाता है। अन्धकारका नाश होना मानकर भी चरण छूनेमें लज्जा आ दबाती है, पर वही लज्जा धनुष टूटनेके बाद जयमाल पहनानेमें नहीं आती। इतना होनेपर भी हृदयमें लज्जाका होना ही सिद्ध हुआ, इससे अलौकिक प्रीति नहीं सूचित होती।

मानस-प्रेमियोंको सदा मूल पदके शब्दोंका अवलम्ब लेकर तथा पूर्वापरका विचार रखते हुए ही उनके अर्थ और भावोंकी खोज करनी चाहिये, जिससे ग्रन्थकारके यथार्थ आशयमें ही प्रवेश हो सके, थोथा बाहर-ही-बाहर भटकना न पड़े। यहाँ मूल पदके शब्दों-को विचारनेसे जो आशय ध्यानमें आया है, वह इस प्रकार है—

श्रीजानकीजी अहल्याकी गतिको याद करके ही श्रीरामजीके चरणोंको अपने हाथसे नहीं छूतीं। वह अहल्याकी गतिका स्मरण करके श्रीरामजीके चरणोंको छूनेके फलको भलीभाँति विचार रही हैं।

श्रीमानसमें अहल्याका श्रीरामजीके चरणोंके स्पर्शका प्रसङ्ग दो बार आया है। एक बार तो जब वह पत्थर हुई पड़ी थी, तब स्वयं श्रीचरणोंने ही उसे स्पर्श किया था, यथा—

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही॥

—इस प्रथम पाद-स्पर्शसे पहले अहल्या सर्वोपायशून्य, जड, अपने-आप श्रीचरणोंको छूनेमें असमर्थ थी। श्रीरघुनाथजीने अपने-आप ही उसको चरण-स्पर्श करा दिया। परिणाम यह हुआ कि उसका घोर कष्ट-भार निवृत्त हो गया और उसे श्रीरामजीकी सन्निधि-रूप परमसुखकी प्राप्ति हुई। दूसरी बार जब स्तुति आदि करनेके

बाद अहल्याने स्वयं (अपनी ओरसे) अपने हाथोंसे श्रीरामजीके चरणोंका स्पर्श किया—यथा 'बार बार हरि चरनन्हि परी ।' तब वह 'गै पतिलोक अनंद भरी' अर्थात् अपने हाथसे स्पर्श करनेपर [प्रभु-वियोगरूप फल पाकर] अपने पतिके लोकको चली गयी ।

श्रीसीताजी अहल्याकी इन्हीं दो गतियों (प्रथम गति—श्रीरामजीने जब अपनी ओरसे चरणोंका स्पर्श प्रदान किया, तब घोर दुर्दशा नष्ट होकर प्रभुकी प्राप्ति हुई और दूसरी गति—अर्थात् प्रभुकी प्राप्ति होनेपर जब अहल्याने स्वयं अपने हाथों स्पर्श किया तो उसे प्रभु-वियोगिनी होकर निज पतिके लोकको जाना पड़ा) को स्मरण कर अपने हाथोंसे प्रभुके चरणोंका स्पर्श नहीं करतीं । मानो वह निज नाथ श्रीरघुनाथजीको अपनी अलौकिक प्रीतिका प्रदर्शन इन शब्दोंमें करा रही हैं कि "नाथ ! मैं अहल्या-की ही भाँति शिव-धनुषकी प्रतिज्ञारूप भारी पाषाणके बोझसे दबी पड़ी थी । सर्वोपायशून्य और असमर्थ थी । कोई अवसर अपने प्रभुको अपने पुरुषार्थसे प्राप्त करनेका नहीं दीखता था । नाथ ! आपने अहैतुकी दया करके स्वयं आकर अहल्याकी तरह मेरा भी उद्धार कर दिया । अब मुझे सखियाँ कह रही हैं कि तुम अपने हाथोंसे प्रभुके चरण-कमल पकड़ो—'सखीं कहहिं प्रभु पद गहु सीता'; परन्तु मुझमें स्वयं (अपनी ओरसे) चरण-स्पर्श करनेकी सामर्थ्य नहीं है । मेरी प्रपत्ति मानसिकरूपसे आपके प्रति यही है कि श्रीचरण स्वयं ही स्पर्श करके मुझे अपना लेवें, जिससे अखण्ड सन्निधि (संयोग) की प्राप्ति हो । जैसे अहल्याको पहले श्रीचरणोंने स्वयं ही स्पर्श प्रदान किया था । दूसरी बार अहल्याने जब अपने

हाथोंसे चरण-स्पर्श किया तो वह प्रभुसे विदा होकर अपने पति (अर्थात् द्वितीय व्यक्ति——गौतम) के पास चली गयी थी; पर मेरा तो प्रभुके सिवा और कहीं ठिकाना ही नहीं है। मेरे तो पति और गति——सब कुछ आप ही हैं। मुझे आपके सिवा किसके पास जाना है, जो अपने हाथोंसे आपके चरण छूकर विदाई चाहूँ ? अतः मुझे वियोगकी चाह न होनेके कारण मैं अपने हाथसे पद-स्पर्श कैसे करूँ ? स्वयं प्रभु अपने चरणोंको स्पर्श कराके मुझे अपने शरणमें रक्खें। प्रभो ! आपका स्वयं मुझे अपनाना नित्य और अखण्ड होगा।''

इस प्रकार गौतम-तियकी गतिकी सुरतिमें अलौकिक प्रीतिका पूर्ण भाव श्रीरामजीके प्रति प्रदर्शित किया गया। सर्वदर्शी सर्वान्तर्यामी प्रभु इस परम अनन्य अलौकिक प्रीतिको जानकर मनमें परम प्रसन्न हुए——'मन बिहसे रघुबंसमनि।' श्रीसीताजी अपना हार्दिक अनन्यभाव प्रभुको प्रदर्शित कर अपने हाथोंसे रघुनाथजीके चरणोंको स्पर्श किये बिना ही उनका परम प्रसन्नतारूपी प्रसाद पाकर सखियोंके साथ वहाँसे लौट गयीं। भावग्राही प्रभुने इस अलौकिक प्रीतिको स्वीकार करनेके प्रमाणस्वरूप यह प्रत्यक्ष उत्तर दिया कि श्रीजानकीजीको अहल्यासे भी अधिक दयापात्र मानकर उनके प्रति अपने चरणोंका स्पर्श करानेसे भी अधिक दया की अर्थात् जानकीजीका पाणिग्रहण करके सदाके लिये उन्हें स्वीकार कर नित्य संयोगकी भागिनी बना लिया।

श्रीसीता-रामचन्द्रकी जय !
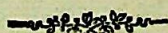
१४–श्रीरामको चौदह ही वर्षका वनवास क्यों ?

शङ्का–तुलसीकृत रामचरितमानसके अयोध्याकाण्डमें आया है—

सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका॥
मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥
तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी॥

कैकेयीने इस प्रकार राजा दशरथसे वर माँगे। किन्तु मन्थराने कैकेयीसे वनवासके सम्बन्धमें कोई निश्चित समय नहीं बताया था, न तबतक तपस्वी वेष तथा विशेष उदासीन रहनेकी कोई शर्त्त लगानेको कहा था। जैसा कि रामायणमें है—

दुइ बरदान भूप सन थाती। मागहु आजु जुड़ावहु छाती ॥

फिर यह शङ्का होती है कि कैकेयीने चौदह वर्षके ही लिये वनवास क्यों माँगा, आजन्म या कुछ कम समयके ही लिये क्यों नहीं माँगा ? और फिर वनवासके साथ-साथ तपस्वी वेष और विशेष उदासी रहनेकी शर्त्त उस महारानीने क्यों लगा दी ?

समाधान—यह ठीक है कि मन्थराने केवल इतनी ही सम्मति दी थी कि—

सुतहि राजु रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू ॥

—तापस वेष और विशेष उदासीनताके साथ चौदह वर्षका वनवास स्वयं कैकेयीने ही माँगा था। किन्तु ऐसा करनेके लिये उसी गिरा (सरस्वती) ने उसके अंदर प्रेरणा की थी, जिस गिराने मन्थराकी मति फेरकर उससे दो वर माँगनेके लिये सम्मति दिलवायी थी। इसका प्रमाण उसी रामायण-ग्रन्थमें मौजूद है—

गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि तीय अधरबुधि रानि।
सुरमाया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतिआनि ॥

'सुरमाया बस' का तात्पर्य ही गिरा (सरस्वती) द्वारा बुद्धिका बदला जाना है। पुनः श्रीभरद्वाज ऋषि तो स्पष्ट ही श्रीभरतजीसे कह रहे हैं कि—

तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति।

इसलिये यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीसरस्वतीकी प्रेरणासे ही ऐसा वर कैकेयीने माँगा था।

केवल चौदह वर्षकी ही प्रेरणा इस कारण हुई कि रावणके आयुमें अब केवल चौदह वर्ष ही शेष रह गये थे, इससे अधिक माँगनेकी कोई जरूरत नहीं थी और इससे कम तो माँगा ही नहीं जा सकता था। तापस वेष और विशेष उदासी रहनेकी शर्त्त रखनेका उद्देश्य यह था कि मुनि और तपस्वियोंपर ही धर्माघात करनेके लिये रावण तथा अन्य राक्षसोंका विशेष आक्रमण हुआ करता था—

निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥

—इसलिये सोचा गया कि जब सरकार भी तपसी (साधु)-वेषमें रहेंगे, तब अवश्य ही रावण इनसे भी छेड़-छाड़ करेगा। इसके अतिरिक्त देवताओं और साधु-तपस्वियोंमें प्राकृतिक सम्बन्ध है। दैवी और आसुरी दो सम्पत्तियाँ हैं और साधु-वेष दैवी सम्पत्तिका द्योतक है। अतः अपने वर्गानुकूल वेष मँगवाया गया, जिससे सब तरहकी सुविधा और लाभ रहे। इसके सिवा वनवासीके लिये यही वेष सुविधाजनक भी था। अब रही विशेष उदासीकी बात। सो तापसका वेष रखना तो बाह्य वृत्ति बनाना है। किन्तु केवल साधुका वेष बनाकर प्रपञ्चरत रहना उस वेषकी भी निन्दा करना-कराना है-

सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग।

—इस तापस वेषके साथ-साथ उदासीन वृत्ति अर्थात् प्रपञ्चसे उपेक्षा भी होनी चाहिये, तभी उसकी गिनती साधु-समाजमें हो सकती है। असुरोंको भी सच्चे साधुओंकी ही खोज रहती है, दम्भियोंको तो वे अपना सहायक ही मानते हैं। अतएव देवताओंने उपर्युक्त प्रयोजनको दृष्टिमें रखकर ऐसा वर माँगनेकी प्रेरणा की।

१५—भरत-शत्रुघ्नको सूचना क्यों नहीं दी गयी

एक सज्जनने प्रश्न किया है कि "वनगमनके पूर्व होनेवाले भगवान् रामके राज्याभिषेक-समारोहमें अयोध्यापुरी सब प्रकारसे सजायी गयी; परिजन, पुरजन—सभी आनन्दके साथ इस उत्सवमें सम्मिलित हुए। परन्तु भरत और शत्रुघ्नको इसकी सूचनातक नहीं दी गयी। जब किसी साधारण पुरुषके यहाँ कोई छोटा-मोटा भी उत्सव होता है, तब अपने सगे-सम्बन्धियोंको बुलाया जाता है। चक्रवर्ती संम्राट् महाराजा दशरथके यहाँ बड़े पुत्रका राज्याभिषेक हो और छोटे पुत्रोंको सूचनातक न दी जाय, इसका रहस्य स्पष्ट नहीं होता। श्रीरामचरितमानसमें उस दिनका स्पष्ट उल्लेख भी नहीं मिलता। 'बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिअ सकल समाजु।'—इस दोहेमें मुहूर्तकी कोई तिथि नहीं है। 'सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु।' और 'भयउ पाखु दिन सजत समाजू।'—इन दोनोंका मिलान करनेसे भी ऐसा माॡम पड़ता है कि भरत और शत्रुघ्नको सूचित करनेका पर्याप्त अवसर था, परन्तु उन्हें सूचना नहीं दी जाती। इस बातका जो समाधान प्राप्त होता है, उसे सात्त्विक बुद्धि स्वीकार नहीं करती। आप कृपा करके इसका समाधान कीजिये।"

प्रश्नमें उद्धृत 'बेगि बिलंबु न करिअ नृप....' और 'सुदिन सुमंगलु तबहिं जब....' इन दोहोंपर ध्यान रखते हुए जब पूरा प्रसङ्ग आद्योपान्त पढ़ जाते हैं, तो साफ पता चल जाता है कि तिथिकी चर्चा न होनेपर भी वास्तवमें राजतिलकके लिये दूसरे दिन प्रातःकालका समय ही निश्चित हुआ है। केवल एक रात्रि ही

बीचमें थी, इसीलिये कोई तिथि न देकर 'वेगि' और 'बिलंबु न करिअ' शब्द दिये गये हैं। 'वेगि' के बाद 'बिलंबु न करिअ' का वाक्य समयकी निकटतापर और भी जोर देता है। अब इसकी पुष्टिके लिये प्रसङ्गके और भी प्रमाणोंको देखिये—

प्रमुदित मोहि कहेउ गुर आजू। रामहि राउ देहु जुबराजू॥

महाराज दशरथजी श्रीगुरु वसिष्ठजीकी आज्ञा 'बेगि बिलंबु न करिअ नृप' प्राप्त करके तत्काल लौटते हैं—'मुदित महीपति मंदिर आए।' और 'सेवक सचिव सुमंत्रु बोलाए'—अपने सभी सेवक-सचिवोंको बुलाकर कहते हैं कि आज मुझे श्रीगुरुदेवकी ऐसी आज्ञा हुई है। सचिवगण विनती करते हैं—

जग मंगल भल काजु बिचारा। बेगिअ नाथ न लाइअ बारा॥

यहाँ भी 'वेगिअ' तथा 'न लाइअ बारा' ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। समर्थन पाकर महाराजका आनन्द बढ़ जाता है और उन्हें आज्ञा देते हैं कि 'श्रीगुरुजीके पास जाकर वे जैसी आज्ञा दें, उसके अनुसार तैयारी करो।'

कहेउ भूप मुनिराज कर जोइ जोइ आयसु होइ।
राम राज अभिषेक हित बेगि करहु सोइ सोइ॥

यहाँ तीसरी बार 'वेगि' शब्द आया है। श्रीगुरुदेवकी आज्ञा पाते ही सब कार्यकी तैयारी आरम्भ हो गयी, समस्त रानियों-को मङ्गल-समाचार उसी समय उनकी चेरियोंने पहुँचाया। 'एहि अवसर मंगलु परम सुनि रहँसेउ रनिवासु।' कौसल्या-सुमित्रा आदि रानियोंके यहाँ समाचार सुनानेवालोंको भूषण-वसन आदि इनाम दिये गये, चौक पूरे जाने लगे, मङ्गलकलश सजने लगे।

उसी समय मन्थरा दासीद्वारा महारानी कैकेयीके पास भी समाचार पहुँचा। परन्तु उसे सरस्वतीने अपयशकी पिटारी बना दिया था; इसलिये उससे जो विस्तृत बातचीत होती है, उसका वर्णन ग्रन्थमें अवसर पाकर सिलसिलेसे आया है। पुरवासियोंको मङ्गल-समाचार सुनकर बड़ा हर्ष होता है—

राम राज अभिषेकु सुनि हियँ हरषे नर नारि।
लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि॥

राजाज्ञासे श्रीवसिष्ठजी स्वयं श्रीरघुनाथजीके निवासभवनमें जाकर अभिषेककी सूचना देते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि कल आपके राजतिलकका मुहूर्त निश्चित हुआ है। अतः 'राम करहु सब संजम आजू।' यहाँ भी वही 'आजू' शब्द पुनः आया है, जो मन्त्रियोंसे राजाने कहा था—'प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू।' आगे जो 'आज' और 'कालि' शब्द आये हैं, उनपर तनिक ध्यान दीजिये।

घाट बाट घर गलीं अथाईं। कहहिं परस्पर लोग लोगाईं॥
कालि लगन भलि केतिक बारा। पूजिहि बिधि अभिलाषु हमारा॥
कनक सिंघासन सीय समेता। बैठहिं रामु होइ चित चेता॥
सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघन मनावहिं देव कुचाली॥

इन वचनोंसे भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि जिस दिन राज्याभिषेक-मङ्गलकी बात प्रारम्भ होती है, उसके दूसरे ही दिन उसका मुहूर्त भी निश्चित है। यदि ऐसा न होता तो जनताके मुखसे ऐसा क्यों निकलता कि 'कालि लगन भल केतिक बारा।' 'सकल कहहिं कब होइहि काली'—इत्यादि।

यही बात महारानी कैकेयीजी और उनकी दासी मन्थराके

वार्तालापमें भी है। उसी दिन उस उत्सवके आरम्भको देख-सुनकर जब मन्थरा देवमायासे मोहित होकर क्षुब्ध हृदय लेकर रानीके महलमें जाती है, तब श्रीरामराज्याभिषेकके सम्बन्धमें मलिन सूचना देती हुई कहती है—'रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू। जेहि जनेसु देइ जुबराजू॥' वहाँ भी कैकेयी माताका यही वचन आता है कि 'राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली। देउँ मागु मन भावत आली॥' और जब कैकेयी भी 'सुरमाया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतिआनि', तब फिर मन्थराने भी स्पष्ट कहा है कि 'रामहि तिलक कालि जौं भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ॥' तथा 'होइ अकाजु आजु निसि बीतें। बचन मोर प्रिय मानेहु जी तें॥' इसपर कैकेयीने भी स्वीकृति दी है—'जौं बिधि पुरब मनोरथु काली। करौं तोहि चख पूतरि आली॥' कोपभवनमें राजा श्रीदशरथजी भी कैकेयीको यही शुभ समाचार सुनाते हैं कि 'रामहि देउँ कालि जुबराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू॥' उपर्युक्त प्रबल और अकाट्य प्रमाणोंसे यह भलीभाँति सिद्ध है कि जिस दिन 'श्रवन समीप भए सित केसा।' को मुकुरमें देखकर श्रीचक्रवर्तीजीके मनमें यह स्फुरणा हुई और उन्होंने 'मुदित मन गुरहि सुनायउ जाइ,' उसी दिन यह तै पाया कि 'इसी शुभ मुहूर्तमें प्रातःकाल ही तिलक कर दिया जाय। फिर ऐसा सुदिन अथवा शुभ मुहूर्त शीघ्र नहीं आनेका; कारण कि चक्रवर्तियोंके राज्याभिषेकमें योग, लग्न, ग्रह, वार आदि सभी अनुकूल मिलाने पड़ते हैं, जो वर्षोंमें कभी कठिनता-से मिलते हैं। उस समय वह योग स्वतः बन गया था। इसीसे एक ही दिनमें सब तैयारी बड़ी शीघ्रतासे हुई। 'बेगि' शब्दका पुनः-पुनः

प्रयोग यही बात ध्वनित करता है । 'जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा । सो तेहिं काजु प्रथम जनु कीन्हा ॥'

एक ऐसा विचार भी निश्चित जान पड़ता है कि शुभ मुहूर्तसे राज्याभिषेक करके इसका महोत्सव पीछेसे मनाया जाय, क्योंकि श्रीभरत-शत्रुघ्न तो बहुत दूर केकय देशमें हैं । उन्हें तो सूचना देना असम्भव ही है, अपने अधीन राजाओंको और जनकपुर आदिके सम्बन्धियोंको भी तो इतनी शीघ्रतामें कोई सूचना नहीं दी जा सकती ।' नजर लानेके लिये मातहत राजाओंको हाजिर होना था, नात-गोतके लोगोंको एकत्र होना था; परन्तु इस मुहूर्तके निर्वाहमें समयकी संकीर्णतासे किसीको भी समाचार नहीं दिया जा सका और यही कारण था कि शीघ्रतामें श्रीभरतजीको भी यह समाचार नहीं पहुँचाया जा सका ।

अब प्रश्नकर्त्ताके दिये हुए प्रमाणकी एक अर्धालीपर और विचार करना है । वह है—'भयउ पाखु दिन सजत समाजू । तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू ॥' यह मन्थराका वचन है, जो कि कैकेयीको कपट-प्रबोध करने—झूठ-मूठ समझानेके लिये आया है । अतः जैसे और सब बातें मन्थराने देवमायावश झूठ-मूठ कहकर कैकेयीको अपने अधीन किया है, वैसे ही यह बात भी सरासर झूठी है । उसने सोचा, बढ़ाकर पाख अर्थात् पंद्रह दिन कहनेसे रानीके मनमें भेद पड़ जायगा; नहीं तो जहाँ पंद्रह दिनसे उस प्रकार मङ्गल मनाया जाता; जैसा वर्णन कि एक दिनका है—सारे नगरमें कोलाहल, बधावे, बाजे-गाजे, तोपोंकी सलामियाँ, नाना प्रकारकी वेदध्वनियाँ, पूजना, बख्शीशें बँटना इत्यादि पंद्रह दिनतक होता रहता,

वहाँ कैकेयीजीको खबर न पहुँच पाती—यह कैसे सम्भव था ? को
भी कार्य चोरीसे करनेका तो कहीं भी संकेत नहीं है, खुले मैदा
धूमधाम शुरू हो गयी थी। श्रीचक्रवर्तीजीने जिस दिन गुरुदेवव
आज्ञा पायी, उसी दिन कार्य आरम्भ कराके स्वयं ही वे कैकेयी
पास जाते हैं और रामके प्रति उसके प्रेमको जाननेके कारण शु
भावसे कहते हैं—

भामिनि भयउ तोर मन भावा। घर घर नगर अनंद बधावा॥

वें कैकेयीके 'मन भावा' कार्यको पंद्रह दिन क्यों और कि
भयसे छिपाये रखते ? क्या बधावे और बाजे-गाजेके शब्द भी
कैकेयीके कानोंमें जानेसे रोके जा सकते थे ? अतः मन्थराका यह
कथन कि 'भयउ पाखु दिन सजत समाजू।' उसी तरह समूल
मिथ्या है—जैसे उसने कहा था—

भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब।

—अर्थात् 'भरतको कारागार दिया जायगा और लक्ष्मण
रामजीके नायब बनेंगे।

कद्रूँ बिनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिलाँ देब।

—जैसे कद्रूने विनता (गरुड़की माता) को दुःख दिया था,
उसी तरह तुम्हें कौसल्या देंगी'—इत्यादि। मन्थराके वचनोंकी
झुठाईका प्रमाण ग्रन्थके प्रकरणसे भी सिद्ध है, कैकेयीसे बात करते
समय उसने सौगन्ध खायी थी—

जौं असत्य कछु कहब बनाई। तौ बिधि देइहि हमहि सजाई॥

—सो विधिके ही अवतार श्रीशत्रुघ्नजीने 'हुमगि लात तकि
कूबर मारा' है और 'लगे घसीटन धरि धरि झोंटी।' उन्होंने उसे

सजा देकर प्रमाणित कर दिया है कि मन्थराका कथन सोलहों आने झूठ था। इसलिये 'पाखु दिन' का उत्सव झूठा सिद्ध होकर एक दिनका ही प्रमाणित है।

अब यदि कोई कहे कि समयकी संकीर्णता सिद्ध होते हुए भी यह बात भरत आदिसे छिपायी ही गयी होगी तो उस शङ्कालु हृदयको कम-से-कम श्रीभरतजीके व्यवहारपर दृष्टि देना उचित है। जिस समय उनके कानोंमें ये शब्द पड़ते हैं कि श्रीरघुनाथजीको राज्य न देकर वन भेजा गया है, उनकी क्या दशा हो जाती है— इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। मातासे तो वे स्पष्ट ही कह देते हैं कि 'जनमत काहे न मारे मोही।' तथा 'गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा।' और अन्ततक श्रीभरतजीने क्या करके नहीं दिखा दिया। क्या शङ्का करनेवाले महाशय न्यायदृष्टिसे कह सकते हैं कि यदि श्रीभरतजीके पहुँचनेका अवसर होता और वे आ सके होते, तो यह विघ्न कदापि उपस्थित हो पाता ? यदि नहीं तो भरतजीसे छिपाकर राज्याभिषेक करनेमें और क्या प्रयोजन सिद्ध होता ? स्वयं कैकेयीका हृदय ही पहले कितना शुद्ध था, यह—

जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥

—इत्यादि वचनोंसे सिद्ध होता है। अतः कैकेयीसे भी छिपानेका कोई कारण नहीं था। राजा दशरथ-सरीखे सत्यवादी, जिन्होंने प्राण-त्याग करके भी सत्यताका परित्याग नहीं किया, कहते हैं—

मोरें भरतु रामु दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकरु साखी॥

तथा—

लोभु न रामहि राजु कर बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जियँ करत रहेउँ नृपनीति॥
राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ। राममातु कछु कहेउ न काऊ॥

क्या सत्यनिष्ठशिरोमणि महाराज श्रीदशरथजीकी ये बातें कपटपूर्ण मानी जा सकती हैं—जिस कथनमें श्रीरामजीकी सौ-सौ सौगंध खायी गयी हैं?

जब देवमायावश कैकेयीने वर-याचना की थी, तब महाराज दशरथ श्रीभरतजीको राज्य देनेके लिये तैयार ही हो गये थे। उन्होंने कहा था कि 'प्रातःकाल ही दूत भेजूँगा और जब भरतजी आ जायँगे तो हर्षपूर्वक दूसरे शुभ मुहूर्तमें उन्हींको राज्य दे दूँगा।'

सुदिन सोधि सबु साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई॥

विचार करना चाहिये कि ऐसी परिस्थितिमें किसके लिये, क्यों कौन दुराव करता और समाचार न देकर चुपके-से यह कार्य क्यों किया जाता? इसलिये हर तरहसे यह सिद्ध होता है कि आज एकाएक श्रीराम-राज्याभिषेककी आज्ञा ली गयी और संयोगवश प्रातःकाल ही शुभ मुहूर्त उतरा। इतने स्वल्प समयमें केकयदेशसे श्रीभरतजी नहीं बुलाये जा सकते थे। केवल यही, समयका सङ्कोच ही उन्हें सूचना न देनेका कारण था। किसीके हृदयमें कोई दुर्भाव सिद्ध नहीं होता, न तो उसकी सम्भावना ही है। इसलिये मेरी बुद्धिमें उपर्युक्त शङ्काका यही समाधान है।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

१६—क्या विवाहके समय कैकेयी-पुत्रको राजगद्दी दिये जानेकी शर्त हुई थी ?

वाल्मीकीय रामायणमें लिखा है कि दशरथजी कैकेयी-को इस शर्तपर ब्याह कर लाये थे कि इनसे जो पुत्र उत्पन्न होगा, उसीका राज्याभिषेक किया जायगा। फिर उन्होंने इसका पालन क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है कि यह कथा वाल्मीकीय रामायणकी है, यहाँ हम विवेचन करते हैं श्रीरामचरितमानसके कथाप्रसङ्गपर, अतएव इसका विचार हम क्यों करें, जब कि श्रीतुलसी-कृत रामचरितमानसमें इस चर्चाका लेश भी नहीं मिलता ? बल्कि

उसमें तो इसके प्रतिकूल प्रमाणोंका डंका अवश्य बज रहा है। मानसमें यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि जबतक मन्थराके द्वारा महारानी श्रीकैकेयीजीकी मति छली नहीं गयी थी, तबतक उनको भी श्रीरामचन्द्रजीका ही राज्याभिषेक इष्ट था। यथा——

सुदिनु सुमंगल दायकु सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥
राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली। देउँ मागु मन भावत आली॥
प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें। तिन्ह कें तिलक छोभु कस तोरें॥

भरत सपथ तोहि सत्य कहु परिहरि कपट दुराउ।
हरष समय बिसमउ करसि कारन मोहि सुनाउ॥

मानसके अनुसार यदि विवाहके समय कैकेयीके पुत्रको ही राजगद्दी मिलनेकी कोई शर्त हुई होती तो क्या उन्हें उसका पता न रहता? क्या वे उसे भूल जातीं? उपर्युक्त चौपाइयों तथा दोहेसे तो स्पष्टतः यही प्रकट हो रहा है कि उनको स्वप्नमें भी इस तरहकी किसी शर्तका खयालतक नहीं था। वे सूर्यवंशकी सुन्दर परम्परागत रीतिके अनुसार ज्येष्ठ सन्तान श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकको ही ठीक मानती थीं, रात-दिन उसीकी प्रतीक्षा कर रही थीं और उसीमें अपना आह्लाद भी प्रकट करती थीं। इतना ही नहीं, पहले-पहल जब उन्होंने मन्थराके मुँहसे द्विविधाजनक बात सुनी अर्थात् जब उन्हें मालूम हुआ कि श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकके सम्बन्धमें मन्थराके मनमें विरोधभाव उत्पन्न हो गया है, तब वे उसे पीटनेतकके लिये तैयार हो गयीं। उन्होंने उसे खूब फटकारा और कहा——

पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥

—इत्यादि ।

दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि यदि विवाहकालमें ही श्रीभरतजीकी राजगद्दीके लिये शर्त हुई रहती तो मन्थरा कैकेयीको, उसी शर्तको पूरा करानेके लिये, कोपभवनमें बैठा सकती थी। परन्तु ऐसा न करके मन्थराने कैकेयीको देवासुर-संग्रामके अवसरपर मिले हुए दो वरदानोंका ही, जो थाती रक्खे गये थे, स्मरण दिलाया और उन्हींके अनुसार श्रीभरतजीके राज्याभिषेकके लिये नवीन वर माँगनेकी सलाह दी। इसके अलावा, कोपभवनमें कैकेयी और राजा दशरथने परस्पर जो बातें की हैं, उनमें भी ऐसी किसी शर्तका जिक्र नहीं आया है। यदि भूलसे भी ऐसी कोई शर्त हुई रहती तो कैकेयी उसकी याद अवश्य दिलातीं। उस प्रसङ्गमें, राजा दशरथने कोपभवनमें प्रवेश करते ही कैकेयीके प्रसन्नतार्थ जो कुछ कहा है, वह भी ध्यान देने योग्य है। उन्होंने वहाँ जाते ही यह समाचार मुक्तकण्ठसे सुनाया है—

भामिनि भयउ तोर मन भावा। घर घर नगर अनंद बधावा॥
रामहि देउँ कालि जुबराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू॥

अस्तु, यदि श्रीदशरथजीने विवाहके समय भरतजीको राज्यतिलक देनेका वादा किया होता तो वे कैकेयीसे कभी यह नहीं कह सकते थे कि 'भामिनि ! तुम्हारा मनचाहा हो गया है; मैं तुम्हारे मनका कार्य ही कर रहा हूँ। श्रीरामजीका राज्याभिषेक कल हो जायगा। अतः सुनयने ! सारी चिन्ताओंको छोड़ दो और अब मङ्गल-साज साजो।' और यदि केवल राज्याभिषेककी बात होती तो

श्रीभरतको उसका अधिकारी बनानेमें श्रीदशरथजीको कोई कि
कष्ट भी न होता। उन्होंने तो अन्तमें सहर्ष कह ही दिया था कि-

मोरें भरतु रामु दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकरु साखी॥
अवसि दूतु मैं पठइब प्राता। ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता॥
सुदिन सोधि सबु साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई॥

लोभु न रामहि राजु कर बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जियँ करत रहेउँ नृपनीति॥

श्रीदशरथजीके अपार दुःखका कारण तो श्रीरामजीको व
भेजनेवाला दूसरा वरदान हुआ, जिसका विवाहकालकी उपर्यु
शर्तसे कोई सम्बन्ध नहीं था। यदि वैसी कोई शर्त हुई रहती त
श्रीतुलसीकृत मानसके दशरथ-सरीखे सत्यप्रतिज्ञ पुरुष अवश्य ह
उसे पूरा किये बिना न छोड़ते। कोई भी बाधा, चाहे वह कठिन-से
कठिन क्यों न होती, उन्हें प्रतिज्ञाच्युत नहीं कर सकती थी।

अतएव श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके आधारपर यह बात
सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो जाती है कि राजा दशरथने कैकेयीसे इस
शर्तपर विवाह किया था कि वे कैकेयीके पुत्रको ही राज्याधिकारी
बनायेंगे; और जब शङ्का-समाधान श्रीतुलसीकृत मानसके सम्बन्धमें
होता है, तब उपर्युक्त शङ्का ही निर्मूल हो जाती है। यदि किसी
ग्रन्थकी कोई बात किसी जिज्ञासुको समझानी हो तो वह उसी
ग्रन्थके आधारपर समझायी जा सकती है, वहाँ संशय-निवृत्तिके लिये
अन्यान्य ग्रन्थोंके प्रमाण स्वीकार नहीं किये जा सकते। इस
बातको ग्रन्थकार गोस्वामीजीने भी बालकाण्डके आरम्भमें ही
इङ्गितरूपसे बतला दिया है कि रामचरितमानससे अन्य अनेक

ग्रन्थोंके ऐक्य-स्थापन करनेकी सम्भावनाको छोड़ देना चाहिये। कल्पभेदसे चरितभेदका निश्चय करके इस कथाको सादर और प्रेमपूर्वक श्रवण करना चाहिये, इसीसे कल्याण होगा। जो विविध संशयोंमें पड़ेगा, उसके संशयोंकी निवृत्ति कभी न होगी। यथा—

कलपभेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥

यह कहा नहीं जा सकता कि किन-किन स्थलोंपर श्रीतुलसीकृत और वाल्मीकीय रामायणोंमें कथाभेद है; कहीं-कहीं तो दोनोंमें पूरे-पूरे प्रसङ्गका ही अन्तर पाया जाता है। जैसे परशुरामजीके आगमनको ही लीजिये। श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसमें जनकपुरमें धनुषभङ्गके पश्चात् तत्काल उनके आगमनका वर्णन किया गया है; परन्तु वाल्मीकीय रामायणमें जब विवाहके बाद बारात जनकपुरसे लौटकर अयोध्या जा रही थी, तब मार्गमें परशुरामजीका मिलना वर्णित है। अतः वाल्मीकीयमें क्या लिखा है, अध्यात्ममें क्या लिखा है, आनन्दरामायणमें क्या लिखा है—इस झगड़ेमें पड़ना ठीक नहीं है; और न इसका निबटाना श्रीतुलसीकृतका काम है, सब अपने-अपने स्थानपर ठीक हैं। श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके सम्बन्धमें यदि किन्हीं सज्जनको कोई शङ्का हो तो उसका समाधान करनेकी सेवा श्रीरघुनाथजीकी दयासे अवश्य की जायगी; पर वह शङ्का होनी चाहिये श्रीतुलसीकृतसम्बन्धी ही। उपर्युक्त शङ्का श्री-तुलसीकृतसे सम्बन्ध रखनेवाली नहीं है, अतः वह अप्रामाणिक है।

१७-क्या भरतको न बुलानेमें राजाकी कोई चाल थी?

प्रश्न—बालकाण्डान्तर्गत श्रीराम-राज्याभिषेककी तैयारीके प्रस[ङ्गमें आ]ई है की—

हरषि मुनीस कहेउ मृदु बानी। आनहु सकल सुतीरथ पानी॥

—इस अर्धालीसे यह सिद्ध होता है कि श्रीवसिष्ठजीके आज्ञानु[सार] सम्पूर्ण तीर्थोंका जल बात-की-बातमें एकत्रित कर दिया गया थ[ा]। यह किस प्रकार सम्भव हुआ? और सम्भव हुआ तो उसी थ[ोड़े] समयमें भरतजीको उनके ननिहालसे बुलानेकी व्यवस्था करनेमें क[्या] कठिनाई थी?

उत्तर—इस प्रश्नका उत्तर बड़ा स्पष्ट है। जिस प्रसङ्गमें—

हरषि मुनीस कहेउ मृदु बानी। आनहु सकल सुतीरथ पानी॥

—आया है, उसी प्रसङ्गमें यह भी कह दिया गया है कि—

जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा । सो तेहिं काजु प्रथम जनु कीन्हा ॥

इससे स्पष्ट होता है कि मुनिवर श्रीवसिष्ठजीकी समस्त आज्ञाओंका पालन तत्काल हो गया, कहीं जाने-आनेकी आवश्यकता न होनेके कारण जरा भी देरी नहीं हुई । बात यह है कि चक्रवर्ती श्रीअवधराजके दरबारकी विभूतिका ज्ञान न होनेके कारण हमारी कंगाल बुद्धिमें ऐसी शङ्काएँ उठा करती हैं । जिनके यहाँ 'सावँकरन अगनित हय होते' अर्थात् अगणित श्यामकर्ण घोड़े थे, उनके दिव्य और अनन्त कोषका हम अनुमान नहीं कर सकते । परन्तु हम अनुमान करें या न करें, महाराज दशरथके यहाँ किसी पदार्थकी कमी नहीं थी । अस्तु, जिस प्रकार—

औषध मूल फूल फल पाना । कहे नाम गनि मंगल नाना ॥
चामर चरम बसन बहु भाँती । रोम पाट पट अगनित जाती ॥
मनिगन मंगल बस्तु अनेका । जो जग जोगु भूप अभिषेका ॥

—इन वाक्योंके अनुसार श्रीराम-राज्याभिषेककी तैयारीके समय सभी आवश्यक पदार्थ श्रीअवधराजके भरपूर भण्डारसे तत्काल एकत्रित हो गये थे, उसी प्रकार वहींसे सब सुतीर्थोंका जल भी एकत्रित कर लिया गया था । उसके लिये विभिन्न तीर्थस्थानोंकी यात्रा करनेकी आज्ञा नहीं दी गयी थी; केवल सब सुतीर्थोंका जल चाहा गया था, जो अयोध्याके ही सुसम्पन्न भण्डारमें सञ्चित था । क्योंकि प्रत्येक शुभ यज्ञ-यागादिमें उसकी आवश्यकता पड़ा करती थी । अतः अन्य सामग्रियोंकी तरह सब तीर्थोंका जल भी तत्काल एकत्रित कर लिया गया था । इसीलिये—

जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा । सो तेहिं काजु प्रथम जनु कीन्हा ॥

—कहा गया है।

प्रश्नकर्ताके प्रश्नके अन्तिम वाक्यसे यह ध्वनि निकलती कि परम साधनसम्पन्न महाराज दशरथ यदि चाहते तो उसी समयमें श्रीभरतजीको भी बुलानेकी व्यवस्था कर सकते थे; पर उन्होंने जान-बूझकर किसी खास उद्देश्यसे ऐसा नहीं किया। प्रथम तो उपर्युक्त उत्तरसे इस बातका खण्डन हो जाता है; दू श्रीरामचरितमानसके दशरथका चरित्र इतना उदात्त और निर्मल कि उसके सम्बन्धमें किसी भी विचारवान् पुरुषको जरा भी श नहीं हो सकती। महाराज दशरथका परिचय बहुत थोड़े शब्दों इस प्रकार दिया गया है—

धरम धुरंधर नृपरिषि ग्यानी। हृदयँ भगति मति सारँगपानी॥

अर्थात् महाराज दशरथ श्रीस्वायम्भुव मनुके अवतार तो थे ही कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तियोगी भी थे। और ऐसे महा दशरथजीने कैकेयीजीसे स्वयं कहा है—

मोरें भरतु रामु दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकरु साखी॥
अवसि दूतु मैं पठइब प्राता। ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता॥
सुदिन सोधि सबु साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई॥

अतः ऐसी स्थितिमें महाराज दशरथ-जैसे धर्मधुरीण एवं सत्यवादीके चरित्रमें कपट-चालकी शङ्का करना सर्वथा निर्मूल है।

सियावर रामचन्द्रकी जय!
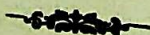
१८—क्या बनवासमें श्रीरामका धनुष-धारण और राक्षस-संहार अनुचित था ?

जब श्रीरामचन्द्रजी श्रीकैकेयीके आज्ञानुसार चौदह वर्षके वनवासके लिये मुनिवेषमें निकले, तब उन्होंने धनुष-बाण क्यों धारण किया तथा निशाचरोंका संहार क्यों किया ? उन्हें तो आयुधहीन और अहिंसक बनकर तपस्वी अथवा मुनिका जीवन बिताना चाहिये था।

शङ्का ठीक है।

'तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी॥'

—यही वरदान कैकेयीने माँगा था और यह भी कहा था कि—

'होत प्रातु मुनिबेष धरि जौं न रामु बन जाहिं।'

परन्तु श्रीकैकेयी अम्बाने किस अभिप्रायसे तापस वेष मुनिबेष शब्दोंका प्रयोग किया था, उसे तो वे स्वयं ही समझती दूसरा कोई उनके अभिप्रायको उनसे अधिक नहीं समझ सकता फिर जब उन्हींके सामने श्रीरामजीने तपस्वी अथवा मुनियोंका-सा बनाया, उन्हींके-से पट धारण किये, तब उन्होंने स्वयं धनुष क्यों नहीं उतरवा दिया ? इससे यह सिद्ध होता है कि श्रीकैकेयी अम्बाको तपस्वी अथवा मुनियोंका वही वेष इष्ट था, जिसे श्रीरामजीने उनके सामने धारण किया था। फिर हम कैसे सकते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीने माता श्रीकैकेयीके वचन प्रतिज्ञाका पालन नहीं किया ! यदि ऐसी कोई बात होती, जैसी प्रश्नकर्ताने समझी है, तो अवश्य ही श्रीकैकेयी अम्बा धनुष उतरवा लेतीं और वनमें अत्याचारी निशाचरोंपर हाथ उठाने लिये भी मना कर देतीं। दूसरी बात यह है कि श्रीकैकेयी माता वरदानोंका अभिप्राय भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे अधिक दूसरा नहीं समझ सकता था और न वे मर्यादापुरुषोत्तम श्रीकैकेयी माता अभिप्रेत नियमोंका पालन करनेमें भी कोर-कसर रख सकते यदि श्रीकैकेयी माताकी वैसी इच्छा होती तो वे तत्काल क्षात्र-धर्मोंको छोड़कर मुनि बन जाते तथा किसी एकान्त स्थान समाधि लगा लेते। भले ही उस समयका भूभार उतारनेके उन्हें दूसरा अवतार लेना पड़ता। परन्तु ऐसी कोई बात नहीं उन्होंने वही किया, जिससे माता कैकेयीकी आज्ञाओंका अक्षर पालन तो हुआ ही, साथ-ही-साथ सारे जगत्का भी कल्याण हुआ

१९—क्या निषादराज और वसिष्ठकी भेंट चित्रकूटमें ही हुई?

प्रश्न—शृङ्गवेरपुरमें निषादराजका भरतजीसे सम्मिलन हुआ, परन्तु रघुकुल-गुरु वसिष्ठजीसे नहीं हुआ; उनसे तब हुआ, जब वे चित्रकूट पहुँचकर श्रीरघुनाथजीसे मिल चुके थे। बीचमें वसिष्ठजी और निषादराजकी भेंट न हुई हो, ऐसी भी बात नहीं है; क्योंकि दीनबन्धु प्रभुको गुरुके पधारनेकी खबर सबसे पहले उसीसे मिली। अतः यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ग्रन्थकारने चित्रकूट पहुँचनेपर ही वसिष्ठजी और निषादराजका सम्मिलन क्यों कराया?

उत्तर—निषादराज गुहने शृङ्गवेरपुरके प्रथम मिलनके अवसरपर भी मुनिवर वसिष्ठजीको दण्डवत् किया था। यथा—

देखि दूरि तें कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहि दंड प्रनामू॥
जानि रामप्रिय दीन्हि असीसा। भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा॥
राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥
करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥

परन्तु श्रीवसिष्ठजीने निषादराजका स्पर्श नहीं किया। उन्होंने उसको रघुनाथजीका प्रिय जानकर आशीर्वादमात्र दे दिया। जब

भरतजी राम-सखा सुनते ही रथसे उतरकर उससे मिलनेको सं
आगे बढ़े और उसे दण्डवत् करते देखकर उन्होंने छातीसे लगा लि
और उनके इस प्रेमपूर्ण व्यवहारकी देवतालोग भी भूरि-भूरि प्रशं
एवं साह्लाद समर्थन करने लगे, तब यह सब देख-सुनकर वसिष्ठ
के मनमें यह लालसा जाग उठी कि अब जब कभी संयोग लगे
तब मैं अपनी इस कमीकी पूर्ति अवश्य करूँगा। वे मन-ही-म
सोचने लगे—'यह तौ राम लाइ उर लीन्हा।' अतएव मुझे
इसके साथ स्पर्शास्पर्शका भेद रखना उचित नहीं था। फलतः जि
समय श्रीचित्रकूट पर्वतपर निषादराज पर्णकुटीसे श्रीराम-लक्ष्मण
साथ श्रीवसिष्ठादिके स्वागतार्थ लौटे और दोनों स्वामियोंके गुरुको प्रण
कर लेनेपर सेवकके नियमानुसार प्रणाम करने लगे, तब श्रीवसिष्ठ
को अवसर मिल गया। उस समय निषादराजने यह सोचा कि
'श्रीगुरुजी मुझे स्पर्श नहीं करते, इसलिये मुझे दूरसे ही दण्डव
करना चाहिये' और यह सोचकर उन्होंने श्रीवसिष्ठजीको दूरसे ही
दण्डवत् किया; परन्तु अबकी बार श्रीवसिष्ठजी क्यों चूकने लगे
उन्होंने दौड़कर निषादराजको जबरदस्ती हृदयसे लगा लिया और
इस प्रकार उन्होंने शृङ्गवेरपुरमें उत्पन्न हुई लालसा तथा त्रुटि पूर्ण
की। इतना ही नहीं, उस समय निषादराजको प्रेमपूर्वक भेंटक
श्रीगुरुजीको जो आनन्द मिला, वह लखनलालजीके मिलनेसे भी
अधिक था; क्योंकि उन्हें स्वयं इस बातकी उत्कण्ठा थी कि कब
ऐसा संयोग मिलेगा। यथा—

> प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
> रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरिसहिं फूला॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥

जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥

उस समय वे ही देवतागण, जो शृङ्गवेरपुरमें इस मर्मको जान चुके थे, श्रीराम-भजन (भक्ति)के प्रभावको प्रकट देखकर आकाशसे फूल बरसाते हुए यह गाने लगे कि इस निषादसे जातिमें कोई नीचा नहीं है, 'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा।'—जिसकी परछाईं छू जानेपर स्नान किया जाता है। और इधर वसिष्ठजीसे जाति और कुलमें कोई बड़ा नहीं है, वे साक्षात् ब्रह्माके ही सुपुत्र हैं; फिर भी वे श्रीरामभक्तिके नाते निषादसे श्रीलक्ष्मणजीकी अपेक्षा अधिक सम्मान-पूर्वक मिल रहे हैं।

यह सुसंयोग सर्वान्तर्यामी प्रभु श्रीरघुनाथजीकी कृपाप्रेरणासे ही घटित हुआ। इधर परम भागवत श्रीवसिष्ठजीकी रुचि पूर्ण हुई, क्योंकि 'राम सदा सेवक रुचि राखी' अर्थात् प्रभु अपने जनकी लोक-परलोकविषयक लालसाको शेष नहीं रखते; इधर निषादराजके हृदयसे भी यह बात निकल गयी कि 'गुरुजी मुझको स्पर्शसे बचाते हैं।' और संसारके समस्त जीवोंको इस घटनाद्वारा यह सुशिक्षा मिली कि भजनके प्रतापसे सब कुछ सम्भव है; क्योंकि निषादराजकी यह उक्ति कि—

राम कीन्ह आपन जबही तें। भयउँ भुवन भूषन तबही तें॥

—भजनके प्रतापसे ही चरितार्थ हो गयी।

२०—भरतजीकी चित्रकूट-यात्रा कष्टकर क्यों हुई ?

शङ्का—भरतजी जिस समय चित्रकूट गये हैं, उस समयके उनके मार्गका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

......................। भइ मृदु महि मगु मंगल मूला॥
किएँ जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥

अर्थात् चित्रकूट जाते समय भरतजीको सब प्रकारकी सुविधाएँ मिलीं; श्रीरामचन्द्रजीकी अपेक्षा उनको रास्ता भी कम

चलना पड़ा । किन्तु दूसरी ओर भरतजीके सम्बन्धमें यह वर्णन आया है कि 'झलका झलकत पायन्ह कैसें' और श्रीरामचन्द्रजीके लिये रास्तेभरमें कहीं ऐसी बात नहीं कही गयी है ।

समाधान—जब अयोध्याजीमें श्रीभरतलालने अपनी यह इच्छा प्रकट की कि मैं प्रातःकाल श्रीचित्रकूट चलूँगा, आपलोग भी यही आज्ञा दीजिये; और यह आशिष दीजिये कि श्रीरामचन्द्रजी हमारी विनती मानकर राजधानीको लौट आवें—

तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥
जेहिं सुनि बिनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि रामु रजधानी॥

—तब इस अभिप्रायको सुनकर देवताओंको चिन्ता हो गयी और वे रुष्ट होकर इस जतनमें लग गये कि श्रीभरतजीके सामने मार्गादिके कष्टोंद्वारा ऐसा विघ्न खड़ा किया जाय, जिसमें श्रीरामचन्द्रजीके साथ उनकी भेंट ही न हो सके। इस कारण केवल शृङ्गवेरपुर और प्रयागके मध्यके मार्गमें उन्हें ऐसा कष्ट दिया गया, जैसा कि निम्नाङ्कित पंक्तियोंसे स्पष्ट हो जाता है--

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥

(अवध० दोहा० २०३)

झलका झलकत पायन्ह कैसें। पंकज कोस ओस कन जैसें॥
भरत पयादेहिं आए आजू। भयउ दुखित सुनि सकल समाजू॥

परन्तु जब श्रीभरतजीने त्रिवेणी-स्नान करके तीर्थराज श्रीप्रयाग-से खुले शब्दोंमें यह विनती की कि—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥
(अवध० दोहा० २०४

—तब देवताओंको विश्वास हो गया कि भरतजी हमारी हा[illegible] नहीं चाहते हैं; इन्हें तो केवल श्रीरामप्रेमसे ही मतलब है[illegible] उन्हें लौटाना आदि इनका उद्देश्य नहीं है। उस समयसे [illegible] उनकी सेवामें लग गये और उसके बादका यह वर्णन है—

किएँ जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥
(अवध० दोहा० २१६

यह वर्णन प्रयागराजसे प्रयाण करनेके पश्चात् ही प्रयाग औ[illegible] चित्रकूटके बीचके रास्तेका है, जब कि देवताओंकी रुष्टता ह[illegible] चुकी थी। उपर्युक्त दो प्रकारके वर्णनोंका यही कारण है।

सुर स्वार्थी कहे गये हैं। स्वार्थबुद्धि बराबर बदलती रहती है[illegible] आगे चलकर देवता फिर घबरा गये और यह विचार करने ल[illegible] कि ऐसा करना चाहिये जिसमें 'रामहि भरतहि भेट न होई।' परन्तु जब सुरगुरु श्रीबृहस्पतिजीने समझाया कि रामभक्त श्रीभरतजी-का स्वप्नमें भी 'अकाज' न सोचो, नहीं तो अनर्थ हो जायगा, त[illegible] 'समुझाए सुरगुर जड़ जागे'—सचेत होकर सब किसीने श्रीभरतकी ही शरण ली। इन्हीं देवताओंके भ्रमवश प्रतिकूल और अनुकूल होनेके कारण रामायणमें उपर्युक्त दो प्रकारका—मार्गदुःख और मार्ग-सुखका वर्णन आया है।

सियावर रामचन्द्रकी जय।
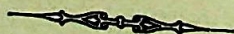
२१—श्रीरामचरितमानसका एक दोहा

भरत बिनय सादर सुनिअ करिअ बिचारु बहोरि।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥

इस दोहेका जो अर्थ टीकाकारों और कथावाचकोंद्वारा होता हुआ देखा-सुना गया है, वह इस प्रकार है—श्रीवसिष्ठजी कहते हैं कि 'रामजी! आप भरतजीकी विनतीको आदरपूर्वक सुनिये तथा पुनः विचार कीजिये। जो साधुमत, लोकमत एवं राजनीतिके अनुकूल तथा वेदसम्मत हो वही कीजियेगा।'

परन्तु इस दोहेके पूर्व इन्हीं श्रीवसिष्ठजीका वचन इस प्रकार है—

मोरें जान भरत रुचि राखी। जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी॥

अर्थात् 'रामजी! मेरी रायमें यदि आप भरतजीकी रुचि रखते हुए कार्य करेंगे तो वही शुभ होगा। शिवजी इसके साक्षी हैं।' उपर्युक्त दोहेके बादके वचन भी, जिन्हें श्रीरामजीने उत्तरमें

कहा है, इसी बातकी पुष्टि करते हैं। श्रीरघुनाथजीका वचन है कि 'भरतजीकी रुचि रखनेके सम्बन्धमें गुरुदेव श्रीवसिष्ठजीकी जो राय है, वही ठीक है। भरतजी जो कहेंगे, वही करनेमें भलाई है।' ऐसा कहनेके पश्चात् श्रीरामजी चुप हो गये, यथा——

भरतु कहहिं सोइ किएँ भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥

परन्तु यहाँपर इस बातकी शङ्का खड़ी हो जाती है कि यदि दोहेका उपर्युक्त अर्थ ठीक माना जाय तो पूर्व-परके वाक्योंमें विरोध उपस्थित हो जायगा! श्रीभरतजीकी रुचि रखनेकी बात कैसे कही जा सकती है, जब कि उनकी विनय सुन लेनेके बाद उसपर विचार किया जायगा! बल्कि दोहेमें तो एक प्रकारसे भरतजीकी रुचिका कोई खास खयाल न करके जो साधुसंमत, लोकसंमत, राजनीतिमत एवं निगम-निचोड़ हो, उसीको करनेकी राय दी जा रही है। अतः जो वसिष्ठजी पहले शिवजीको साक्षी देकर यह कह चुके हैं कि भरतजीकी रुचिके अनुसार कार्य करनेमें ही भलाई है, वे ही पीछे यह कैसे कह देंगे कि 'नहीं, साधुमत और लोकमत आदिके अनुसार कार्य किया जाय'? यदि किसी प्रकार वसिष्ठजी पीछे ऐसा कहकर भरतजीकी रुचिके अनुसार कार्य न करनेकी सम्मति देते भी हैं तो श्रीरामजीके लिये ऐसा क्यों लिखा गया है कि 'बोले गुर आयसु अनुकूला' या 'भरतु कहहिं सोइ किएँ भलाई।'

अस्तु, यदि इस दोहेका उपर्युक्त प्रकारसे अर्थ न करके ऐसा अन्वय किया जाय कि 'भरत बिनय साधुमत, लोकमत, नृपनय, निगम निचोरि सादर सुनिअ करिअ, बिचारु बहोरि करब' तो श्रीवसिष्ठजीके पूर्वकथनकी और भी पुष्टि हो जाती है तथा श्रीरामजी

के वचनोंकी भी संगति लग जाती है और पूर्व-परकी बातोंमें कोई विरोध नहीं पड़ता। श्रीवसिष्ठजी पूर्वमें कह चुके हैं कि 'रामजी !

भरत सनेहँ बिचारु न राखा ॥
तेहि तें कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति मोरी॥
मोरें जान भरत रुचि राखी। जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी॥

—अर्थात् भरतजीके स्नेहने मुझको विचारहीन कर दिया है, मेरी बुद्धि भरतजीकी भक्तिके वशमें हो रही है, अतः मेरी समझमें यदि भरतजीकी ही रुचि रक्खी जायगी, तभी शुभ होगा। मैं शिवजीको साक्षी मानकर यह बात कह रहा हूँ।' इसी प्रकार ऊपरके अन्वयके अनुसार इस दोहेका भावार्थ यह हुआ—'भरतजी-की विनय सर्व मतोंके अनुकूल है। रामजी ! उसे आदरपूर्वक सुनिये एवं तदनुसार कीजिये; विचार पीछे कीजियेगा। यदि आप विचार करेंगे तो भरतजी ऐसे गम्भीर हैं कि इनकी विनयमें आपको साधुमत, लोकमत, नृपनय, निगम-निचोड़ आदि सब कुछ मिलेगा। तात्पर्य यह कि भरतजीकी विनय ऐसी ही होगी, जिसमें उपर्युक्त चारों मतोंका समर्थन भरा रहेगा। अतः इस समय बिना विचार किये ही इनकी विनयको आदरसहित सुनिये और उसीके अनुसार कीजिये।' इसी प्रकारके कथनपर श्रीरामजीने उत्तर दिया है कि 'बहुत अच्छा ! भरतजी जो कहेंगे, वही किया जायगा'—

भरतु कहहिं सोइ किएँ भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥

अब ऊपरके अन्वयमें साधुमत, लोकमत, नृपनय, निगम-निचोरि—इन चारोंको जो भरतजीकी विनयका विशेषण माना गया है, सो मानसप्रेमीजन इन्हें क्रमशः प्रमाणसहित देख लें और तब

इस अर्थ-संगतिको पुष्ट मानें। जब श्रीरामजीकी स्वीकृति मिल गयी—

तब मुनि बोले भरत सन सब सँकोचु तजि तात।
कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदय कै बात॥

गुरुदेव श्रीवसिष्ठजीकी आज्ञा पाकर भरतजीने यह वि[illegible] की है—

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ। (१) साधुमत
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥ (२) लोकमत
नतरु जाहिं बन तीनिउ भाई। बहुरिअ सीय सहित रघुराई॥
(३) राजनी[illegible]

जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना सागर कीजिअ सोई॥
(४) निगम-निचो[illegible]

पहली विनय भरतजीकी यह हुई कि आप मुझको अनुजसहि[illegible] वनमें भेजकर सबको सनाथ कीजिये, अर्थात् राजगद्दीपर आसी[illegible] होइये। यह साधुमत है और दो प्रमाणोंसे है—एक तो भरतजीक[illegible] यही सम्मति साधु श्रीवसिष्ठजीद्वारा मिली थी कि—

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई॥

—दूसरे राज्यप्राप्तिके प्रश्नपर विचार करें तो श्रीदशरथ[illegible] महाराजके विचारसे ('जेठ स्वामि सेवक लघु भाई') श्रीरामजी उस[illegible] हकदार थे और कैकेयी माताकी वरयाचनाके अनुसार श्रीभरतजीक[illegible] वह मिलना चाहिये था। इस झगड़ेको निपटानेके लिये भरतजी[illegible] यह साधुमत प्रदर्शित किया कि मैं अपना हक आपको ही दि[illegible] देता हूँ, राज्य (लाभ) चाहता ही नहीं; बल्कि वनवासरूप जो हानि है, उसीको मैं लूँगा।

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥

दूसरी विनय भरतजी यह करते हैं——

नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ ॥

अर्थात् 'दोनों छोटे भाइयोंको घर भेज दिया जाय; मैं इन दोनोंसे बड़ा हूँ, मुझको ही साथ ले चला जाय।' यही लोकमत है; क्योंकि लोक-प्रथाके अनुसार सयाने लोग ही परदेश जाते हैं, लड़के घरमें रहते हैं। गीतावलीमें भी इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है— 'फेरियहिं नाथ लखन लरिका हैं।'

तीसरी विनय राजनीतिपूर्ण है——'नतरु जाहिं वन तीनिउ भाई।' क्योंकि 'सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।' अर्थात् भरतजी कहते हैं कि 'हम तीनों भाई हाथ, पैर और नेत्रकी भाँति सेवक हैं; श्रीसरकार मुखके समान स्वामी हैं। इसलिये नीतिके अनुसार युगल सरकार सिंहासनासीन होकर आज्ञा देते रहें और हम तीनों भाई सेवकाईमें वन जाकर आपकी आज्ञाके पालनद्वारा कृतार्थ होवें।' हाथसे कमाकर, पैरसे चलकर, आँखोंसे देखकर जो कुछ प्राप्त किया जाता है, वह मुखमें डाला जाता है और—

मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक ॥

अस्तु, भरतजीका यह कथन कि 'हम तीनों सेवक सेवा करें और स्वामी राज्य करें' यही राजनीति है।

भरतजीकी चौथी विनय कि 'जिससे करुणासिन्धु श्रीप्रभुको प्रसन्नता हो, वही करें' निगम-निचोड़ है। क्योंकि वेद-मर्यादा

यही है कि भगवान्‌की जो इच्छा हो, वही जीवका कर्तव्य है, भगवदाज्ञाके पालनमें ही जीवका सब प्रकारसे कल्याण है। 'रजाइ सीस सबही कें' यही वैदिक मार्ग है।

इस प्रकारसे श्रीभरतजीकी विनयमें साधुमत, लोकमत, नृपनय, निगम-निचोड़—इन चारोंका समावेश कहा गया है। श्रीवसिष्ठजीकी मतिने, जिसके सम्बन्धमें—

भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी॥

—यह कहा गया है, भरतजीकी विनयको साधु-सम्मत तो सिद्ध कर दिया था, शेष तीनों विशेषणोंका स्पष्टीकरण नहीं किया था; परन्तु यह अनुमान कर लिया था कि ये तीनों बातें भी भरतजीकी विनयमें परिपूर्ण हैं। इसीलिये दोहेमें ऐसा कहा है। हाँ, वसिष्ठजीकी मतिने एक बातका अनुमान अवश्य नहीं किया था, जिसको भरतजीने अन्तिम निश्चयके रूपमें प्रकट किया है—

अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइँ न पावा॥

क्योंकि उनका यह निश्चय था कि—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥

वस्तुतः श्रीवसिष्ठजी श्रीभरतजीके इस अगाध निश्चयतक अपने अनुमानतः भी नहीं पहुँच सके, तभी उनकी मतिके सम्बन्धमें यह वचन कहा गया है—

गा चह पार जतनु हियँ हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा॥

सियावर रामचन्द्रकी जय !

२२—सम्पातीका प्रसङ्ग

पहले उपर्युक्त प्रसङ्गके अन्तर्गत जो शङ्काएँ उपस्थित होती हैं, मानस-प्रेमियोंके चित्त-विनोदके लिये उनका उल्लेख और समाधान करके ग्रन्थकार श्रीगोसाईंजीके गूढ़ आशयोंका अपनी बुद्धिके अनुसार विवेचन किया जायगा । शङ्काएँ इस प्रकार हुआ करती हैं—

१—जब यह बात प्रकृति-सिद्ध है कि गिद्ध मरे हुए जीवोंको ही खाते हैं, जीवित प्राणियोंके पास नहीं जाते, तब कालकी भी परवा न करनेवाले जाम्बवंत, हनूमान्, अङ्गद आदि निर्भय और अत्यन्त धीर-वीर सुभट पंखहीन जरठ गिद्धके 'मोहि अहार दीन्ह जगदीसा' इस वचनसे क्यों डर गये ? यह तो सर्वथा असम्भव जान पड़ता है।

समाधान—प्रसंगपर विचार कर देखनेसे यहाँ दूसरी ही बात पायी जाती है । क्योंकि ग्रन्थकी पंक्ति है—

डरपे गीध बचन सुनि काना । अब भा मरन सत्य हम जाना ॥

यहाँ 'मरना हमें सत्य जान पड़ता है'—इस निश्चयसे यह ध्वनि निकलती है कि समुद्र-तटपर दर्भ बिछाकर विवश होकर बैठने-

पर भी उन सबको इससे पूर्वतक आशा थी कि परम समर्थ और संकट-हरण प्रभुकी कृपासे जीवन-रक्षाका कोई-न-कोई उपाय निकल ही आयेगा। क्योंकि जिन दयालु प्रभुने अभी इस घोर जलहीन वनमें 'मरन चहत सब बिनु जल पाना' की अवस्थामें श्रीमारुतिजीको निमित्त बनाकर मरते-मरते हम सबके प्राण बचा लिये और विवरमें प्रवेश कराके पलभरमें जल और फलमूल उपलब्ध करा दिया तथा जिस प्रभुकी प्रेरणासे उस तपोमयी नारिके 'पैहहु सीतहि जनि पछिताहू' इस वचनद्वारा हम सबको धैर्य मिला है, वे प्रभु ऐसे नाजुक समयपर, जब प्राणके रहने-न-रहनेका प्रश्न सामने आ गया है, अवश्य ही दया करेंगे। उस समयकी स्थितिका वर्णन इस प्रकार है—

> कह अंगद लोचन भरि बारी। दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी॥
> इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गएँ मारिहि कपिराई॥
> पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही॥
> अस कहि लवन सिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई॥

अर्थात् अपना कुछ वश न चलते देखकर भगवत्कृपाके भरोसे वे सब कुशासनपर समुद्रके किनारे खिन्न हो दीनभावसे जा बैठे। सबके मनमें केवल यही शुभ प्रतीक्षा थी कि देखें भगवान्की दया कब कैसी होती है। इतनेहीमें जब अशुभसूचक अमङ्गलरूप गिद्धकी बोली सुन पड़ी, तब उन्होंने सोचा कि जान पड़ता है हमारी होनहार ठीक नहीं है, अब लक्षण भी ऐसा ही दीखता है कि हमारा यहाँ निश्चय ही मरण होगा—'अब भा मरन सत्य हम जाना।'

गीध-जैसे पक्षियोंका कुसमयमें अथवा बीमार व्यक्तियोंके

समीपमें प्रकट होना अथवा बोलना अशुभ माना जाता ही है । श्रीमानसके लङ्काकाण्डमें रावणकी युद्धयात्राके समय भी इस अशुभ दर्शनका उल्लेख मिलता है—'बैठहिं गीध उड़ाहिं सिरन्ह पर ।' 'चलत होहिं अति असुभ भयंकर ।' यहाँ भी इस भयङ्कर अशुभसे ही इन वीरोंको दुष्परिणामका भय हुआ है, यह बात नहीं कि वे अपनेको निर्बल और गीधको सबल समझकर डर गये हों । वह तो सारा-का-सारा ही सुभटोंका समाज था—'सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू ।' उन्हें प्रबल शत्रुसे भी कदापि भय नहीं हो सकता था । क्योंकि वे तो 'समबल अधिक होउ बलवाना,' 'लरहिं सुखेन काल किन होऊ ।' इस प्रकारका विचार रखते थे । बेचारा सम्पाती तो पंखहीन था, अपनेसे चल भी नहीं सकता था । वह तो 'मोहि लै जाहु सिंधुतट देउँ तिलांजलि ताहि'—इस प्रकार बंदरोंसे समुद्रके किनारे ले चलनेके लिये निहोरा कर रहा था । और यह बात भी निस्सन्देह है कि गीध मरे हुए जीवोंको ही खाते हैं । सम्पातीने भी जब कन्दरामें यह सुना कि यहाँ दर्भ डसाकर उदास बैठे हुए बहुतेरे जीव मरनेके लिये तैयार हैं, तभी उसने कहा था—'मोहि अहार दीन्ह जगदीसा' अर्थात् इनके मरनेपर मैं इन्हें खाकर तृप्त हो जाऊँगा । वाल्मीकीय रामायणमें भी ऐसा ही लिखा है—'भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम् ।'

वे लोग जो भयभीत हो रहे थे, सो घबराहटके कारण नहीं, उनके हृदयमें वैसा विचार ही हुआ था । आगे पंक्ति यही कहती है—

कह अंगद बिचारि मन माहीं । धन्य जटायू सम कोउ नाहीं ॥
राम काज कारन तनु त्यागी । हरि पुर गयउ परम बड़भागी ॥

अङ्गदके इन वचनोंका भी प्रायः यही अभिप्राय लगाया जाता

है कि वे यहाँ सम्पातीके मनको अपनी ओर खींच लेनेके लिये ही उसके भाई जटायुकी चर्चा कर रहे हैं। परन्तु मानस-प्रेमियोंको पूर्वके प्रसंगसे इसका सम्बन्ध मिलाना चाहिये। जब जाम्बवंतने अङ्गदको दुखी एवं प्राण देनेपर उतारू देखा, तब उन्होंने उपदेश-रूपमें कहा—

हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥

अङ्गदजी इसपर मनमें विचारकर उत्तर दे रहे हैं कि "हम अपनेको 'अति बड़भागी' कैसे मानें? हमसे न तो अबतक प्रभुका कार्य ही हुआ और न प्रभुकी सेवामें प्राण ही गये। हमारी समझमें तो श्रीजटायुजी ही परम बड़भागी तथा धन्य हुए हैं, जिन्होंने श्रीरामजीके कार्यमें अपना प्राण त्यागकर सुरपुरके लिये प्रयाण किया है। यदि सम्पातीके आक्रमणसे घबराकर इन्हें जीवनका भय हुआ होता तो उस अवसरपर इस प्रकारका दिव्य विचार कहाँसे सम्भव हो सकता था, जिसमें प्राण-समर्पणको 'परम बड़भाग' माना जा रहा है। इसके पीछेकी चौपाई भी उसी अशुभसूचक अमंगलकी आशङ्काकी पुष्टि कर रही है अर्थात् मृत्युसूचक अशुभ पक्षीका निकट होना कार्यके सिद्ध न होनेकी सूचना देता है।

परन्तु अद्भुत और रहस्यमयी बात तो यह है कि श्रीरामचन्द्र-जीकी कृपादृष्टि जिनपर होती है, उनके लिये 'गरल सुधा रिपु करहिं मिताई' अर्थात् उन्हें असगुन भी सगुनरूप हो जाता है। गीध अशुभसूचक पक्षी था; परन्तु यहाँ रामभक्तोंके लिये उस गरलने सुधा-का काम दिया, रिपु मित्रताका पात्र बन गया। उस अशुभके द्वारा ही उनकी कार्यसिद्धिमें सहायता मिली। उन्हें सुगम मार्ग मिल

गया। यहाँतक कि उसने सारे रहस्यका उद्‌घाटन ही कर दिया। गीधने चन्द्रमा मुनिके शब्दोंको दुहराते हुए कहा—

त्रेताँ ब्रह्म मनुज तनु धरिही। तासु नारि निसिचर पति हरिही॥
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता। तिन्हहि मिलें तैं होब पुनीता॥
जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता। तिन्हहि देखाइ देहेसु तैं सीता॥
मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू। सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू॥
गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका। तहँ रह रावन सहज असंका॥
तहँ असोक उपबन जहँ रहई। सीता बैठि सोच रत अहई॥
मैं देखउँ तुम्ह नाहीं गीधहि दृष्टि अपार।
बूढ़ भयउँ न त करतेउँ कछुक सहाय तुम्हार॥

जो नाघइ सत जोजन सागर। करइ सो राम काज मति आगर॥
मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा। राम कृपाँ कस भयउ सरीरा॥

२—यहाँ दूसरी शङ्का यह उत्पन्न होती है कि जब सम्पातीने स्पष्ट बतला दिया कि 'श्रीसीताजी लङ्काके अशोकवनमें शोकमें पड़ी हुई बैठी हैं, मैं अपार दृष्टिवाला होनेके कारण उन्हें देख रहा हूँ।' तब हनूमान्‌जी श्रीसीताजीकी खोजमें लङ्का जाकर—

'मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा।' 'मंदिर महुँ न दीखि बैदेही।'

—इस प्रकार अन्वेषण क्यों करने लगे? यदि कहा जाय कि किसी अन्य अभिप्रायसे ऐसा कर रहे होंगे तो यह असङ्गत होगा; क्योंकि साधु पुरुष मिथ्या व्यवहार कभी नहीं कर सकते और उन्होंने स्पष्ट ही श्रीविभीषणजीसे कहा है—'देखा चहउँ जानकी माता।' इतना ही क्यों? जब विभीषणजीने उन्हें श्रीसीताजीका पता बतलाया है, तभी वे अशोकवाटिकामें गये हैं। जैसे—

पुनि सब कथा बिभीषन कही। जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही॥

जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ पवनसुत बिदा कराई॥

समाधान—जिस समय विवरके अंदर तपःपुञ्ज नारीने यह आदेश दिया था कि—

मूदहु नयन बिबर तजि जाहू। पैहहु सीतहि जनि पछिताहू॥

——उस समय उस आदेशके अनुसार सबके साथ श्रीहनूमान्जीने भी अपने नेत्र बंद कर लिये थे। परन्तु आप श्रीरामचन्द्रजीके ध्यानके पूर्ण अभ्यासी तो थे ही—'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर'; आपने सोचा, व्यर्थ ही आँख मूँदनेके बजाय श्रीरामका ध्यान ही क्यों न कर लिया जाय? ऊपर ध्यानमुद्राका आदेश तो हुआ ही था; साथ ही उसने जाते समय भगवान्का स्मरण भी करा दिया था— 'मैं अब जाब जहाँ रघुराई,' जिसके सुनते ही श्रीहनूमान्जीके हृदयमें यह विचार हुआ कि यह तो 'कृतकार्य होकर श्रीरघुनाथजीकी सन्निधि प्राप्त करने जा रही है; न जाने वह शुभ दिन कब आवेगा, जब भगवान्के कार्यको पूरा कर मैं भी उस मङ्गलमय स्वरूपको नेत्रभर देखूँगा।' इन्हीं विचारोंमें आपका चित्त रमा हुआ था। समुद्र-तटपर 'जब सबके साथ आपने भी नेत्र खोल रक्खे थे, उस समय भी 'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही' के अनुसार आप ध्यानस्थ अवस्थामें ही थे—यहाँतक कि सम्पातीके पूरे प्रसङ्गमें अङ्गदकी अत्यन्त व्याकुलता तथा प्राणत्यागकी तैयारीमें भी आप कुछ न बोल सके थे। जब सम्पातीके सिन्धु-लङ्घन-प्रसङ्गमें भी आपका ध्यान न टूटा, तब जाम्बवंतजीको आपसे स्पष्ट कहना पड़ा—

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना॥

फिर यह सङ्केत करते हुए स्मरण दिलाया कि 'राम काज लगि तव अवतारा ।' अर्थात् 'श्रीरामजीकी सेवाके लिये ही आपने साक्षात् शिव होकर भी वानरका शरीर धारण किया है ।' यहाँ यह भी ध्वनित होता है कि ध्यान और स्मरण तो आप शिवरूपमें भी करते थे। जैसे—

जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान ।
रुद्र देह तजि नेह बस बानर भे हनुमान ॥

इसे सुनते ही श्रीहनूमान्‌जीका ध्यान भंग हो गया और श्रीप्रभुकी सेवाका विचार सामने आते ही 'सुनतहिं भयउ पर्वताकारा ।' ध्यानस्थ होनेके कारण श्रीहनूमान्‌जीको सम्पातीके विवरणका यथावत् श्रवण नहीं हुआ था; इसीसे अशोक-वाटिकामें सीधे न जाकर उन्होंने श्रीसीताजीको प्रत्येक मन्दिरमें खोजा था और श्रीविभीषणके द्वारा पता मिलनेपर ही उनके पास वे अशोक-वाटिकामें गये थे। पहले साधारणतः मेरे मनमें भी इस शङ्काका यही समाधान होता था कि सम्पातीने श्रीसीताजीका दिनका पता बतलाया था और श्रीहनूमान्‌जीने लङ्कापुरीमें रातमें प्रवेश किया था—'अति लघु रूप धरौं निसि नगर करौं पइसार ।' इससे अनुमान किया जा सकता है कि कदाचित् श्रीहनूमान्‌जीने यह विचारा हो कि अशोक-वाटिकामें श्रीसीताजी दिनमें ही रहती हैं, रातमें अवश्य वे किसी मन्दिरमें रहती होंगी, और इसी विचारसे उन्होंने मन्दिर-मन्दिरमें उन्हें खोजा था। परन्तु पूर्वापर-प्रसङ्गको विचारनेसे एवं श्रीजाम्बवंतके 'का चुप साधि रहेहु बलवाना' एवं 'राम काज लगि तव अवतारा' इन वाक्योंपर दृष्टि डालनेसे जो रहस्य स्फुरण हुआ है, वह ऊपर दिया जा चुका है।

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके हस्तलिखित मानस-बीजककी चतुर्थ प्रतिमें (जो श्रीवेंकटेश्वर-प्रेसमें सं० १९५२ में छपी थी) जितनी चौपाइयाँ मूल मानी गयी हैं, उन्हींके अनुसार यह भाव सिद्ध होता है; परन्तु जिन प्रतियोंमें क्षेपक आ गये हैं, उनके 'सब मिलि कहहिं परस्पर बाता' एवं 'पुनि अस बचन कहत सब भए'—इन पदोंसे श्रीमारुतिजीका चुप साधना भी सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार 'कपि सब उठे गीध कहँ देखी'—को मूल पद मान लेनेसे भी कुशासन-व्रत एवं धीर-वीरपनके भावोंमें असङ्गति आ जाती है। अतः हस्तलिखित प्रतिके ही मूल पाठके आधारपर यह विवेचन किया जा रहा है। इन अधिक चौपाइयोंके न रहनेसे मूलकथाके प्रसङ्गमें कोई त्रुटि नहीं आती, परन्तु इनके आरोपणसे भाव असङ्गत हो जाते हैं। इन क्षेपक चौपाइयोंकी रचना भी ग्रन्थकारकी रचनासे सर्वथा भिन्न-सी जान पड़ती है—जैसे 'हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना। नहिं जैहैं जुबराज प्रबीना ॥' इत्यादि। इधर श्रीग्रन्थकारके पदोंपर विचार करते हैं तो एक-एक शब्द अपने स्थानपर अमित भाव लिये बैठा दीख पड़ता है। जैसे—

सुनि संपाति बंधु कै करनी। रघुपति महिमा बहु बिधि बरनी ॥

यहाँ 'करनी' शब्द जटायुजीके पुरुषार्थ और और्ध्वदेहिक संस्कार दोनोंको सूचित कर रहा है—जैसे 'जूझे सकल सुभट करि करनी।' तथा 'पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी।' श्रीजटायुजीका रावणके साथ पुरुषार्थ प्रकट करना तथा श्रीरामजीके हाथ उनका संस्कार होना—ये दोनों ही विलक्षण हैं।

३–तीसरी शङ्का इस चौपाईपर उठती है—

अंगद कहइ जाउँ मैं पारा। जियँ संसय कछु फिरती बारा॥

यहाँ प्रश्न यह होता है कि अङ्गदको क्या संशय था। इस शङ्काके समाधानमें विभिन्न टीकाकारों तथा कथावाचकोंके विभिन्न मतोंका पहले उल्लेख करके तदनन्तर अपनी ओरसे समाधान करना अधिक उचित जँचता है, जिससे यथार्थ भावका निर्णय मानसभक्तोंको स्वयं ही हो जाय।

(क) किसीका मत है कि अङ्गदजीको शाप था कि 'जिस जलको वे एक बार लाँघ जायँगे, उसे फिर नहीं लाँघ सकेंगे।' परन्तु यह भाव इसलिये सङ्गत नहीं कि यदि ऐसा होता तो वे निश्चयपूर्वक कह देते, 'कछु संसय'से निश्चय नहीं प्रकट होता। शाप तो अन्यथा होता नहीं; फिर 'कछु संसय' ऐसी सन्देहात्मक बात क्यों कही गयी ? फिर श्रीरामचन्द्रजीकी सेनाके साथ एक बार पार जाकर अङ्गदजी वापस आये हैं। अतः शापकी बात ठीक नहीं जँचती।

(ख) किसीका मत है कि अक्षयकुमारको वरदान था कि 'यदि वह एक घूँसा भी अङ्गदको मार देगा तो उनका मरण हो जायगा।' इसका कारण यह बतलाया जाता है कि वे दोनों एक ही गुरुके यहाँ पढ़ते थे। वहाँ अङ्गद उसे बहुत मारते थे, इसीपर गुरुने अक्षयकुमारको वर दिया था। परन्तु यह बात भी सुसङ्गत नहीं मालूम होती। क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो अङ्गदजी स्पष्ट कह देते कि लङ्कामें अक्षयके द्वारा मृत्युका भय है, न कि 'जियँ संसय कछु फिरती बारा।'

(ग) कोई कहते हैं कि पञ्चकन्याओंके अन्तर्गत होनेसे मन्दोदरी अङ्गदकी मौसी थी, इसी कारण उन्हें संशय हुआ। क्योंकि सम्भव था कि उसके प्रेममें बँधकर उनको वहीं रह जाना पड़ता। परन्तु अङ्गद-जैसे रामभक्त और दृढ़निश्चयी पुरुषके विषयमें, जिन्होंने रावणके सामने स्पष्ट कह दिया था—

सुनु सठ भेद होइ मन ताकें। श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाकें॥

—ऐसा अनुमान करना व्यर्थ है। और ऐसा होनेपर भी वे 'लौटती बार कुछ संशय है'—ऐसा क्यों कहते ?

(घ) कोई कहते हैं कि लङ्का जाते समय शक्तिस्वरूपिणी श्रीसीताजी सम्मुख पड़ती थीं और लौटते समय पीछे पड़ती थीं, इसीसे 'कछु संसय' कहा। परन्तु यह बात तो सभीके लिये थी। दूसरी बात यह है कि यदि लङ्का जानेमें शक्ति सामने पड़ती थी तो वहाँसे लौटनेमें तो स्वयं शक्तिनाथ सामने पड़ते थे। इसलिये यह अनुमान भी सङ्गत नहीं जान पड़ता।

(ङ) कोई कहते हैं कि मुद्रिका तो हनूमान्‌जीके पास थी, इसलिये अङ्गदजी यह विचार कर कि 'हम श्रीसीताजीको क्या सहिदानी देंगे' ऐसा कहते हैं। इसके लिये एक दोहा भी पढ़ा जाता है—

न कछु दियो नहिं कहि दियो प्रभु करुना आगार।
ताते जिय संसय भयो अंगद गयो न पार॥

परन्तु यह अर्थ भी असङ्गत ही है; क्योंकि यदि यह विचार होता तो अङ्गदजी लङ्का जानेमें ही अपनी असमर्थता प्रकट करते।

लौटती बार कुछ संशय है——ऐसा क्यों कहते ? हाँ, जाम्ववंतका यह कथन कि——

जामवंत कह तुम्ह सब लायक। पठइअ किमि सबही कर नायक॥

——इन सारी बातोंकी व्यर्थताको सिद्ध कर देता है।

इसी प्रकारकी और भी अनेकों अटकलें लोग लगाया करते हैं, जिनका उल्लेख कर मैं पाठकोंका समय व्यर्थ खोना नहीं चाहता। इस शङ्काका सीधा-सा उत्तर है, जो नीचे दिया जाता है।

समाधान——जब सम्पातीने कहा कि——

जो नाघइ सत जोजन सागर। करइ सो राम काज मति आगर॥

——तब यह विचार होने लगा कि कौन वह शक्तिशाली पुरुष है, जो इस कामको कर सकता है। इसपर——

निज निज बल सब काहूँ भाषा। पार जाइ कर संसय राखा॥

यहाँ भी एक 'संसय' शब्द आता है। यदि इस शब्दपर ही शङ्का उठानी हो तो यहाँ भी शङ्का उठ सकती है कि सबोंने पार जानेमें क्या-क्या संशय उपस्थित किया। परन्तु 'निज निज बल' ने यहाँ शङ्काके अवसरको ही नहीं आने दिया। यहाँ स्पष्ट है कि सब अपने-अपने बलका परिचय देते हुए पार जानेमें अपनी असमर्थता प्रकट कर रहे हैं। उसी प्रकार अङ्गदजीने भी अपने बलका ही जिक्र किया है, इसमें संशयका कोई दूसरा कारण ढूँढ़ना व्यर्थ जान पड़ता है। सभीने अपने-अपने बलका अन्दाज़ करते हुए पार जानेमें ही जहाँ अपनी असमर्थता बतलायी, वहाँ अङ्गदजीने अपने पार

जानेकी शक्तिको तो प्रकट किया परन्तु लौटनेमें उनको कुछ सन्देह मालूम दिया कि 'शायद एक ही उछालमें पार आ सकूँ या नहीं।' ऐसा नहीं कि वे अपनेको लौटनेमें सर्वथा असमर्थ ही समझते थे। उन्हें अधिक अंशमें एक ही उछालमें इधर आ ही जानेकी आशा थी; परन्तु कदाचित् ऐसा न हो, इसीलिये 'कछु' शब्दका प्रयोग किया गया है। और यह कथन भी यथार्थ ही मालूम होता है; क्योंकि कोई भी कार्य हो, करते-करते मनुष्यमें थकावट और शिथिलता आ ही जाती है, यह स्वाभाविक बात है। एक मनुष्य आज सबेरेसे शामतक बीस कोस चलता है; दूसरे दिन उसमें थकावटके कारण सम्भव है इतना चलनेकी क्षमता न रहे। अतएव अङ्गदके 'कछु संसय' में दूसरे कारणके खोजनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं दीख पड़ती। इसलिये स्पष्ट हो गया कि यहाँ केवल अपने-अपने बलके वर्णनका ही प्रकरण है, दूसरी कोई बात नहीं। इस प्रसङ्गको आदिसे अन्ततक देखते हैं तो यही बात सिद्ध होती है। जब सभीने अपना-अपना बल बतलाया तो जाम्बवंतने भी, यह विचार-कर कि इन वीरोंके कथनमें तो कार्यकी सिद्धि नहीं दीख पड़ती, सबके दिलको बढ़ानेके लिये अपने बलको बतलाया—

> जरठ भयउँ अब कहइ रिछेसा। नहिं तन रहा प्रथम बल लेसा॥
> जबहिं त्रिबिक्रम भए खरारी। तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी॥
> बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ सो तनु बरनि न जाइ।
> उभय घरी महँ दीन्हीं सात प्रदच्छिन धाइ॥

जब जाम्बवन्तजीने उन्हें इस प्रकार जोश दिलाया, जो मुख्यतः श्रीहनूमान्के जाग्रत् करनेके निमित्त था, तब वीर अङ्गद

वीरताके रंगमें आ गये और उन्होंने भी अपना बल-सामर्थ्य वर्णन किया—

अंगद कहइ जाउँ मैं पारा। जियँ संसय कछु फिरती बारा॥

—अर्थात् मुझमें इतना बल तो जरूर है कि मैं पार चला जाऊँ; पर लौटनेमें 'कुछ सन्देह' है कि कदाचित् ठीक समयपर इस पार न पहुँच सकूँ। इसपर पुनः श्रीजाम्बवन्तने कहा—

जामवंत कह तुम्ह सब लायक। पठइअ किमि सबही कर नायक॥

अर्थात् 'अङ्गद! तुम्हारा संशय तो ठीक नहीं; तुम सब प्रकारसे योग्य हो—तुममें सामर्थ्य है कि पलमें पार चले जाओ और फिर तुरंत लौट भी आओ। परन्तु तुम तो सबके नायक हो, इसलिये तुमको भेज ही कैसे सकते हैं?' इस प्रकार उनके बलकी प्रशंसा करके उन्हें सान्त्वना दी। इसके बाद श्रीहनूमान्‌जीको सचेत कर जाम्बवन्तजी बोले—

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना॥
राम काज लगि तव अवतारा। ....॥

—बस, इतनी बात सुनते ही श्रीहनूमान्‌जी जोशमें आ गये और सुमेरुगिरिके आकारमें शरीरको बढ़ाकर सिंहनाद करते हुए बोले—'मैं इस खारे समुद्रको तो खेलहीमें पार कर जा सकता हूँ और रावणको उसकी सेना और सहायकोंके साथ मारकर त्रिकूट (लङ्का) को उखाड़कर यहाँ ला सकता हूँ। मुझमें शक्ति तो इतनी है; परन्तु आप जो शिक्षा दें, मैं वही करूँ—

जामवंत मैं पूँछउँ तोही। उचित सिखावनु दीजहु मोही॥

इस प्रकार श्रीहनूमान्‌जीके पूछनेपर जाम्बवन्तजी बोले—

एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥

इस प्रकार इस प्रसङ्गमें केवल बल-वर्णनका ही उल्लेख है, किसी दूसरी शङ्काके लिये तनिक भी अवकाश यहाँ नहीं दीख पड़ता। अब इस समाधानको यहीं समाप्त कर आगे इस प्रसङ्गका गूढ़ रहस्य मानस-प्रेमियोंकी सेवामें निवेदन किया जाता है।

जाम्बवन्तजीने श्रीहनूमान्जीको ऐसा सामर्थ्यवान् पाकर केवल इतना ही क्यों कहा कि—'सीतहि देखि कहहु सुधि आई'? इसमें बड़े गूढ़ रहस्य और भाव भरे हैं। जाम्बवन्तजीकी अगाध भक्तिनिष्ठा, प्रगाढ़ बुद्धिमत्ता तथा गम्भीर सूझपर बलि जाते हुए इनकी सुन्दर स्थितिपर जब ध्यान जाता है, तब हम देखते हैं कि इनके समान श्रीरघुनाथजीके स्वरूपका यथार्थ ज्ञाता तथा सेवा-धर्मके तत्त्वका जाननेवाला दूसरा कोई नहीं है। इन्हें प्रभुका तीन अवतारोंके स्वरूपमें आराधन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अर्थात् श्रीवामनावतार, श्रीरामावतार तथा श्रीकृष्णावतारमें भगवान्की सेवा करनेका इन्हें सुअवसर मिला था। श्रीवामनभगवान्की भक्तिका तो अभी इन्होंने उल्लेख किया है। जैसे—

> जबहिं त्रिबिक्रम भए खरारी। तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी॥
> बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ सो तनु बरनि न जाइ।
> उभय घरी महँ दीन्हीं सात प्रदच्छिन धाइ॥

—तथा श्रीरामावतारकी लीलाका तो प्रसङ्ग ही चल रहा है एवं श्रीकृष्णावतारके समय जब प्रभु स्यमन्तकमणिकी खोजमें निकले थे, तब इन्हीं जाम्बवन्तजीके साथ उनका अट्ठाईस दिनतक युद्ध हुआ था, पर जब इन्हें ज्ञात हो गया कि साक्षात् प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ही श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं, तब इन्होंने अपनी कन्या जाम्बवतीको

स्यमन्तक मणिके साथ श्रीप्रभुकी सेवामें भेंट किया। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ५६ वें अध्यायमें १९ वें श्लोकसे ३२ वें श्लोकतक इस कथाका वर्णन पाया जाता है। इस प्रसङ्गपर उन महानुभावोंको शुद्ध हृदयसे विचार करना चाहिये, जो भगवान्‌के अवतारोंमें तथा श्रीरामजीके कल्पावतारोंमें भेद मानते हैं। श्रीजाम्बवन्तजीसे अधिक श्रीरामजीके प्रति अनन्यताका उदाहरण अस्मदादि कलि-कुटिल जीवोंमें कहाँ सम्भव है—जिन्होंने प्रकट सेवाका लाभ प्राप्त कर प्रभुके यथार्थ स्वरूपका स्वयं अनुभव किया है। वही स्पष्टरूपसे श्रीमानसमें कहते हैं—'जबहिं त्रिबिक्रम भए खरारी।' यहाँ 'खरारी' शब्द स्पष्ट खरके अरि अर्थात् श्रीदाशरथि रामकी ओर ही सङ्केत कर रहा है। अभिप्राय यह है कि 'खरारी' अर्थात् इन्हीं श्रीरघुनाथजीने जब वामनावतार लिया था, तब मैं युवावस्थामें था और उस समय मुझमें अपार बल था। इसी प्रकार श्रीकृष्णजीसे जब जाम्बवन्तजी कहते हैं कि—

> यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षै-
> वर्त्मादिशत् क्षुभितनक्रतिमिङ्गिलोऽब्धिः।
> सेतुः कृतः स्वयशउज्ज्वलिता च लङ्का
> रक्षःशिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि॥
> (श्रीमद्भा० १०।५६।२८)

—अर्थात् 'भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी! आप मेरे इष्टदेव श्रीराम-चन्द्र हैं, जिनके किञ्चित् उद्दीपित क्रोधभरे कटाक्ष-पातसे समुद्रके नाक और मगर क्षुभित हो गये थे, जिन्होंने सेतु बाँधकर तथा लंका-विजय करके अपने यशको उज्ज्वलित किया और राक्षसोंके सिरोंको अपने

बाणोंसे काट-काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया था।' अब इससे अधिक स्पष्ट ऐक्यका प्रमाण क्या दिया जा सकता है? अपने प्रत्यक्ष दर्शनसे एक ही भक्त-शिरोमणि एक ही शरीरसे अपने अनुभवको स्पष्ट करते हैं कि श्रीवामन, श्रीरघुनाथजी एवं श्रीकृष्णभगवान् अनेक नहीं, एक ही हैं। भला, ऐसे एकनिष्ठ भक्तकी—जो ज्ञानवृद्ध होनेके साथ ही वयोवृद्ध भी हैं—शिक्षा ऐसी गम्भीर और गूढ़ भावोंसे पूर्ण क्यों न हो!

बात तो यह है कि स्वामीकी सर्वोत्तम सेवा वही है, जिसमें आज्ञानुसार ठीक-ठीक बरता जाय। आज्ञासे न्यूनाधिक काम न हो। श्रीरघुनाथजीकी इतनी ही आज्ञा थी कि—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥

—अतः जाम्बवन्तजी उसी आज्ञाका स्मरण दिलाकर श्रीमारुतिजीको सेवा-धर्मकी उचित शिक्षा दे रहे हैं। 'तुम्ह आएहु' इस पदसे ही यह ध्वनित होता है कि केवल तुम आना अर्थात् श्रीसीता माताको न लाना। इसीलिये जाम्बवन्तजी कहते हैं—'सीतहि देखि कहहु सुधि आई।' श्रीहनुमान्‌जीने भी श्रीजानकीजीसे अशोक-वाटिकामें यही कहा था कि—

अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई॥

श्रीजाम्बवन्तजी इस सिखावनके साथ ही श्रीमारुतिजीसे आगामी श्रीरामचरितका भी वर्णन कर देते हैं कि जब आप श्रीजानकीजीका सन्देश आकर प्रभुसे सुनावेंगे—

तब निज भुज बल राजिवनैना। कौतुक लागि संग कपि सेना॥
कपि सेन संग सँघारि निसिचर रामु सीतहि आनिहैं।
त्रैलोक पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं॥

जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई।
रघुबीर पद पाथोज मधुकर दास तुलसी गावई॥

इस प्रसङ्गमें श्रीरामचरितमानसकी पूर्ण कथा बालकाण्डसे उत्तरकाण्डपर्यन्त सम्पाती और जाम्बवन्तके कथनद्वारा वर्णित हुई है। सम्पातीने बालकाण्डसे किष्किन्धाके वर्तमान प्रसङ्ग-तकका संक्षेपमें उल्लेख कर दिया था—जैसे 'त्रेताँ ब्रह्म मनुज तनु धरिही' से बालकाण्ड; [अयोध्याकाण्डको श्रीभरतचरितप्रधान जानकर उल्लेख नहीं किया है] 'तासु नारि निसिचर पति हरिही' से वनकाण्ड; तथा—

तासु खोज पठइहि प्रभु दूता। तिन्हहि मिलें तैं होब पुनीता॥

—इत्यादिसे किष्किन्धाकाण्डपर्यन्त श्रीरामचरित हो चुका था। इसके पश्चात् श्रीजाम्बवन्तजीने शेष कथाको पूरा किया है। जैसे—

एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥

—से सुमेरकाण्ड; तथा 'कपि सेन संग सँघारि निसिचर' से लंकाकाण्ड और 'रामु सीतहि आनिहैं' से उत्तरकाण्डपर्यन्तकी कथा सुना दी गयी है।

श्रीजाम्बवन्तजी श्रीहनुमान्‌जीको स्वामीकी आज्ञामात्र पालन करनेकी उचित शिक्षा देकर उन्हें कार्य-सिद्धिके विषयमें भविष्यवाणीद्वारा आश्वासन दिला रहे हैं कि 'जब आप श्रीसीताजीकी सुधि लाकर प्रभुको सुनायेंगे, तब कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी अपने असीम भुजबलसे निशिचरोंका संहार करके स्वयं श्रीसीताजीको लायेंगे। हाँ, केवल कौतुकमात्रके लिये हम बंदर-भालुओंकी सेना-को भी साथ ले लेंगे। अर्थात् यह कार्य आपको नहीं करना है,

इस लीलाको तो स्वयं श्रीरामचन्द्रजी ही करके यशस्वी होंगे।' यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि जब सेवक ही उस कामके करनेमें समर्थ है, तब प्रभुको ऐसा श्रम उठानेका कष्ट क्यों दिया जाय। इसके समाधानस्वरूप अगली पंक्तियोंमें श्रीजाम्बवन्तजी स्पष्ट कह रहे हैं कि इससे यह लाभ होगा कि—

त्रैलोक पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं॥
जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई।

—अर्थात् सुर-मुनि तथा नारदादि ऋषि प्रभुके उस सुयशका बखान करेंगे। जो तीनों लोकोंको पावन करनेवाला है तथा जिसके सुनने, गाने, कथन करने तथा समझनेसे मनुष्य परम पदको प्राप्त करेंगे। यहाँ चार प्रकारकी भगवत्कृपा प्राप्त हो रही है—श्रवण, कीर्तन, कथन और मनन; तथा मुक्ति भी चार प्रकारकी है-सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। तात्पर्य यह कि श्रवण (सुनने) से सालोक्य-मुक्ति प्राप्त होगी। कीर्तन (गुण गाने) से सामीप्य मुक्ति प्राप्त होगी। कथनसे (भगवत्कथा कहनेवाले) सारूप्य-मुक्तिको प्राप्त करेंगे और मननसे (समझनेवाले) सायुज्य-मुक्तिको पावेंगे।

अब यहाँ यह भी विचार कर लेना चाहिये कि श्रीगोसाईंजी अपनी निष्ठाका यहाँ क्या संकेत दे रहे हैं। अर्थात् वे भगवान्के यशके श्रवण करनेवालोंमें हैं कि कीर्तन करनेवालोंमें, कथन करनेवालोंमें अथवा मनन करनेवालोंमें हैं? अन्तिम पंक्तिमें 'दास तुलसी गावई' ऐसा पद मिलता है। तात्पर्य यह है कि श्रीग्रन्थकारकी निष्ठा 'गावई' अर्थात् भगवद्गुणगानमें है। इसमें भी रहस्य है,

क्योंकि आप कलियुगमें प्रकट हुए हैं और कलिमें केवल कीर्तन ही प्रधान है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भा० १२। ३। ५२)

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी ॥
त्रेताँ बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं ॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा ॥
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा ॥

महात्मा श्रीसूरदासजी भी कहते हैं—

कह्यो सुक श्रीभागवत बिचारि।
चार तीन षट अष्टादस मिलि, करते यही विचार।
सतजुग सत, त्रेता तप-संजम, द्वापर पूजाचार ॥
सूर भजन केवल कलि कीर्तन लज्जा कानि निवार।
परम पुनीत प्रीति नँदनन्दन, यहै बिचार बिचार ॥

यही कारण है कि श्रीगोस्वामीजीकी कीर्तननिष्ठा वर्तमान युगके लिये परम उपयोगी सिद्ध हुई है। परन्तु इस रहस्यके अंदर भी रहस्य है। वह यह है कि गोस्वामी तुलसीदासजी इसे परम पदके हेतु नहीं गाते, क्योंकि—

सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं ॥
अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥

—इस सिद्धान्तके अनुसार गोस्वामी तुलसीदासजी 'रघुबीर पद पाथोज मधुकर' बननेके लिये ही श्रीरामचरितका गान करते हैं, जिससे 'पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना ॥'

इससे एक और भाव झलकता है अर्थात् सुर-मुनि, नारदादि जो बखान करेंगे, उससे केवल 'नर' ही परमपदको प्राप्त करेंगे, नारीको उसमें अधिकार न होगा; क्योंकि स्पष्ट लिखा है कि—'परम पद नर पावई ।' क्योंकि उनके संस्कृतमय वेदादि एवं सूत्र-सम्बन्धी ग्रन्थोंमें नारीको अधिकार नहीं है, जैसे 'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी।'

—परन्तु जिसको तुलसीदासजी गाते हैं वह—

भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहिं होई॥

इस प्रकारका—

रावनारि जसु पावन सुनहिं जे नर अरु नारि ।
तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिपुरारि ॥

अर्थात् श्रीगुसाईंजीके श्रीरामचरितमें नर और नारी दोनोंका समान अधिकार है, तथा उन्हें उससे परम पदकी प्राप्तिमात्र ही नहीं वरं 'तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिपुरारि ॥' अथवा—

राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान ॥

'त्रिपुरारि' शब्दसे यह भाव सूचित होता है कि—

सपनेहुँ साचेहुँ मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ ॥

—क्योंकि सारे इच्छित फलोंके दाता श्रीशिवजी ही हैं—

इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहइ न कोटि जतन जप साधें॥

श्रीराम-भक्तिके भंडार भी श्रीशिवजी ही कहे गये हैं—

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥

एवं—

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥
होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥

अन्तमें इस प्रसङ्गके नीचे यह एक सोरठा देकर इस काण्डकी समाप्ति होती है—

नीलोत्पल तन स्याम काम कोटि सोभा अधिक।
सुनिअ तासु गुन ग्राम जासु नाम अघ खग बधिक॥

उपर्युक्त सोरठेकी प्रथम पंक्तिमें श्रीरामचन्द्रजीके रूपका वर्णन है, दूसरी पंक्तिके आधे भाग 'सुनिअ तासु गुन ग्राम' में श्रीरामचरितकी ओर संकेत किया गया है और अन्तिम चरणके 'जासु नाम' पदद्वारा श्रीराम-नामकी ओर इशारा किया गया है। तात्पर्य यह कि हृदयमें श्रीरामरूपका ध्यान हो, कानोंसे श्रीरामकथा सुनी जाय तथा मुखद्वारा श्रीराम-नामका कीर्तन हो। जैसे—

श्रुति राम कथा, मुख राम को नाम, हिये पुनि रामहि को थलु है।
सब की न कहै तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है॥

श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थमें श्रीग्रन्थकारके शब्द कहीं-कहीं बीजकके तौरपर भी पाये जाते हैं, जिनकी खोज मर्मी जनोंको प्राप्त होनेसे ही यथार्थ तत्त्वका ज्ञान होता है, जिससे अत्यन्त सुखकी प्राप्ति होती है। 'नीलोत्पल तन स्याम काम कोटि सोभा अधिक' का मेल श्रीरामजीके रूपवर्णन-प्रसङ्गके उस स्थलसे मिलता है, जहाँ श्रीस्वायम्भुव मनु और शतरूपाको दर्शन देनेके निमित्त 'बिस्वबास प्रगटे भगवाना' ये शब्द प्रारम्भमें देकर भगवान्के सर्वाङ्ग ध्यानका वर्णन है। जैसे—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥

इस दोहेके 'नील सरोरुह स्याम' इस पदके बदले यहाँ 'नीलोत्पल तन स्याम' तथा 'लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि-कोटि सत काम' के स्थानमें 'काम कोटि सोभा अधिक' पाया जाता है। इससे सूचित होता है कि 'सरद मयंक बदन छबि सींवाँ' से लेकर 'पद राजीव बरनि नहिं जाहीं' तक उपर्युक्त स्वायम्भुव मनु और शतरूपाके प्रसंगमें जिस रूपमें भगवान्‌ने उन्हें दर्शन दिया है उसका ध्यान हो तथा श्रीशङ्करजीके निम्नलिखित सङ्केतके अनुसार—

जासु चरित अवलोकि भवानी । सती सरीर रहिहु बौरानी ॥
अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी । तासु चरित सुनु भ्रम रुज हारी ॥

उपर्युक्त 'तासु' शब्दसे मेल रखते हुए 'सुनिअ तासु गुन ग्राम' से श्रीरामायणको लक्ष्य कर कह रहे हैं कि श्रीमानसका ही श्रवण हो। फिर 'जासु नाम अघ खग बधिक' के द्वारा श्रीनारदजीके वर-प्रसङ्गकी ओर सङ्केत करते हैं। जैसे—

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका । श्रुति कह अधिक एक तें एका ॥
राम सकल नामन्ह ते अधिका । होउ नाथ अघ खग गन बधिका ॥

इस 'होउ नाथ अघ खग गन बधिका' का 'जासु नाम अघ खग बधिक' में कैसा विलक्षण मेल हुआ है। इससे सूचित होता है कि श्रीराम-नामका मुखसे रटन होता रहे—

'श्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि'
(बिनयपत्रिका)

बस, यहीं अभिलाषा है।

२३—सेतु रामने बनाया था या नल-नील आदिने ?

'मम कृत सेतु जो दरसन करिही ।'

—इस चौपाईसे श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं कि मेरे बनाये हुए सेतुका जो दर्शन करेंगे········। यहाँ शङ्का यह होती है कि सेतु तो नल, नील, अङ्गद, हनुमान् आदिने बनाया था; श्रीरामचन्द्रजी तो सेतु बाँधते समय अलग थे। उन्होंने न कोई युक्ति बतलायी और न किसी प्रकार-की सहायता दी। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि श्रीराम-चन्द्रजीने सेतु बँधवाया ?

इसका समाधान यह है कि संसारमें सेतु, घाट, मन्दिर, तालाब आदि जितने कृत्य हैं सब उनके बनानेवाले राजगीर और मजदूरोंके नहीं कहलाते बल्कि उनके मालिकके ही नामसे विख्यात होते हैं। अतः इस शङ्काके समाधानमें अधिक विस्तार करना पाठकोंके समयको व्यर्थ नष्ट करना है। हाँ, शङ्का करनेवाले

महाशयके सन्तोषके लिये श्रीमानसके ही कुछ पद प्रमाणमें यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

सुनत बिनीत बचन अति कह कृपाल मुसुकाइ।
जेहि बिधि उतरै कपि कटकु तात सो कहहु उपाइ॥

—इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने जब समुद्रसे कपिसेनाके उतारनेका उपाय पूछा तो समुद्रने उत्तर दिया—

नाथ नील नल कपि द्वौ भाई। लरिकाईं रिषि आसिष पाई॥
तिन्ह कें परस किएँ गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥
मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई॥
एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइअ। जेहिं यह सुजसु लोक तिहुँ गाइअ॥
निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहि यह मत भायऊ॥

समुद्रकी इस विनयको सुनकर श्रीरामजीने अपने मन्त्रियोंको बुलवाकर आज्ञा दी कि शीघ्र ही सेतु तैयार कराया जाय, जिससे सेना पार उतरे—

सिंधु बचन सुनि राम सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ।
अब बिलंबु केहि काम करहु सेतु उतरै कटकु॥

अतएव श्रीरामजीकी आज्ञासे जाम्बवन्तने नल-नीलको बुलवाकर सेतु बाँधने तथा समस्त बंदरोंको पर्वत लानेमें लगाया। इस प्रकार जो कार्य हुआ, वह श्रीरामचन्द्रजीका काम न कहलाकर नल-नीलका कैसे कहला सकता है? इसके अनेक प्रमाण मानसमें प्राप्त हैं—

राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा॥
जेहि बारीस बँधायउ हेला। उतरे कपिदल सहित सुबेला॥

२४–समुद्रमें पत्थर शापसे तरे थे या राम-प्रतापसे ?

श्री रघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान।
ते मतिमंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन॥

——यहाँ यह शङ्का होती है कि 'समुद्रमें पाषाण तरते तो मुनिके शापसे थे, और नल-नीलके हाथों यह काम होता था; फिर इसमें रामचन्द्रजीका क्या प्रताप था ?' इसे ऋषिका प्रताप यदि कहें तो यह बात ठीक भी हो सकती है। क्योंकि नल-नीलका तो इसमें कोई प्रभुत्व नहीं था, फिर रामचन्द्रजीका प्रताप तो कैसे कहा जा सकता है ?

इसका समाधान यह है कि इसमें श्रीरामचन्द्रजीका ही प्रताप प्रमुखरूपसे था। पहले समुद्रकी ही प्रार्थना देखिये——

तिन्ह कें परस किएँ गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥

यहाँ श्रीरामप्रतापका ही अवलम्ब माना गया है, साथ ही अपने लिये भी समुद्रने प्रभु-प्रभुताईका ही आश्रय लिया है——

मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई॥

श्रीहनुमान्‌जीकी उक्तिमें भी श्रीरामजीके प्रतापका ही उल्लेख पाया जाता है—

प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोषेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥

श्रीजाम्बवन्त भी नल-नीलसे यही बात कह रहे हैं—

जामवंत बोले दोउ भाई। नल नीलहि सब कथा सुनाई॥
राम प्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं॥

यही क्यों, सारा दल ही कार्य प्रारम्भ करते समय श्रीरघुवीरके प्रतापको ही स्मरण कर रहा है—

सुनि कपि भालु चले करि हूहा। जय रघुबीर प्रताप समूहा॥

अतएव यह अघटितघटना श्रीरामचन्द्रजीके प्रतापसे ही घटित हुई है और इसी कारण यहाँ स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि—

महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कइ करनी॥

श्री रघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान।
ते मतिमंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन॥

अतिरिक्त इसके—

तिन्ह कें परस किएँ गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥

—इस पदसे ऋषिके शापको कारण मानकर जो शङ्का की गयी है, उसके साथ यह भी विचारणीय विषय है कि केवल पर्वतोंके तरनेसे ही तो सेतुका निर्माण होना सम्भव नहीं है, पर्वतोंका स्थिर होना भी तो आवश्यक है। परन्तु नल-नीलको पर्वतोंके स्थिर करनेका तो शाप नहीं मिला था। इसमें भी श्रीरामजीका गुप्त प्रताप

निहित है। इस विषयमें यह एक कथा चली आती है कि जब नल-नीलके स्पर्श किये हुए पर्वत समुद्रमें तैरते हुए लहरोंसे यत्र-तत्र फैलने लगे, तब इस बातकी चिन्ता हुई कि ये पहाड़ एक-दूसरेसे जुटकर कैसे स्थिर हो सकेंगे। दयासागर प्रभुने विचारा कि हमारे सेवकोंपर भारी चिन्ता आ पड़ी है। वे मुसकराते हुए जाम्बवन्तके समीप आकर पूछने लगे कि 'भला, नल-नीलके हाथोंमें ऐसी कौन-सी खूबी है जो इनके छुए पर्वत समुद्रपर तैरने लगते हैं ?' नल और नीलने इस प्रकार अपनी कथा सुनायी—"स्वामी ! बाल्य-कालमें हमलोग जिस अरण्यमें रहते थे, वहाँ एक बड़े ही तपोनिष्ठ ऋषि रहते थे। वे श्रीरामनामके अनन्य जापक थे, ऋषिकी हमारे ऊपर बड़ी कृपा थी। एक दिन हमलोगोंने उनकी शालग्रामकी मूर्ति लेकर आश्रमके पास ही जलाशयमें डुबो दिया। ऋषिको उसे ढूँढ़नेमें बड़ा समय लगा, मूर्ति मिलनेके बाद उन्होंने यह शाप दे दिया कि 'जाओ, आजसे तुम्हारे स्पर्श किये हुए पत्थर डूबेंगे ही नहीं।' परन्तु प्रभु ! यह सब आपकी ही प्रभुता है।" श्रीरामचन्द्रजीने हँसते हुए कहा कि 'लोग यों ही स्तुति-वचन बना लेते हैं; यदि मेरे हाथका भी एक पत्थर न डूबे तो मैं समझूँ कि इसमें मेरा ही प्रताप है।' ऐसा कहकर भगवान्‌ने एक पत्थरका टुकड़ा समुद्रमें फेंका और वह डूब गया। इसपर जाम्बवन्तने कहा—'प्रभु ! आपने अपने हाथोंसे जिसे फेंक दिया, उसे तो डूबना ही चाहिये। आपकी भुजाके आश्रयसे तो उद्धार होता है। किन्तु उससे च्युत होनेवाला जरूर ही डूब जायगा।' श्रीरामचन्द्रजी मुसकराते हुए लौट गये। इसपर जाम्बवन्तने नल-नीलको बुलाकर कहा कि 'भाइयो ! पर्वतोंको

जोड़कर स्थिर करनेका मसाला भी मिल गया। अब ऐसा उपाय करो कि एक पर्वतपर 'रा' लिखो और दूसरेपर 'म'—फिर प्रेमपूर्वक राम-नामका उच्चारण कर दोनोंको मिला दो। ये दोनों अक्षर 'ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती' हैं। दोनों पर्वतोंको अखण्डरूपसे जुटा देंगे।' अतः ऐसा ही किया गया, अटल सेतु बनकर तैयार हो गया। इस प्रकार सेतुबन्धमें रामप्रतापका ही सारा खेल है, इसी भावको लेकर बिनय-पत्रिकामें कहा है—

> भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
> मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥
> स्वारथ औ परमारथहू को नहि कुंजरो नरो।
> सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि-कटक तरो॥

अतएव श्रीरघुवीर-प्रतापसे ही 'पाषान सिंधु तरे', इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। श्रीरामजीके प्रतापसे ही ऋषिको यह सामर्थ्य प्राप्त थी कि उनके कथनसे ही नल-नीलके हाथोंमें यह विशेषता आ गयी। अन्तमें पर्वतोंके जुटाने और स्थिर करनेमें श्रीरघुवीर-प्रताप-हीसे कार्य सम्पन्न हुआ। समुद्रने भी श्रीरघुवीर-प्रतापसे ही सम्मुख आकर सिन्धु बाँधनेकी सम्मति दी, वानर-भालु श्रीरामके ही प्रतापसे पर्वतोंको गेंदके समान ले आये। सारांश यह है कि सेतुबन्धमें जो कुछ हुआ, श्रीरघुवीर-प्रतापहीसे हुआ। इसमें तनिक भी शङ्काका स्थान नहीं है कि—

> श्री रघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

२५--रावणके दरबारमें क्या अङ्गदजी झूठ बोले ?

शङ्का—रामचरितमानसके लङ्काकाण्डमें अङ्गद-रावण-संवादके प्रसङ्गमें रावणने श्रीराम-सेनाके सब प्रमुख योद्धाओंकी हँसी उड़ाकर जब हनुमान्‌जीके सम्बन्धमें····'है कपि एक महा बलसीला'········ 'आवा प्रथम नगरु जेहिं जारा' कहा, तब उसे सुनकर अङ्गदजी आश्चर्यचकित हो जाते हैं और कहते हैं—

सत्य बचन कहु निसिचर नाहा। साँचेहुँ कीस कीन्ह पुर दाहा॥
रावन नगर अल्प कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई॥

—इत्यादि। फिर अन्तिम दोहेमें वे कहते हैं—

सत्य नगरु कपि जारेउ बिनु प्रभु आयसु पाइ।
फिरि न गयउ सुग्रीव[1] पहिं तेहिं भय रहा लुकाइ॥

—सो अङ्गदजीके इन् वचनोंका क्या तात्पर्य है? प्रकटमें तो उनके ये वचन सर्वथा सत्यविरुद्ध प्रतीत होते हैं। क्योंकि हनुमान्‌जी लङ्का जलानेके बाद समुद्रके दूसरे तटपर आकर अपने जाम्बवन्त आदि सब साथियोंके साथ, जिनमें अङ्गदजी भी थे, सीधे सुग्रीव और भगवान् रामके पास चले गये थे, मार्गमें किसी भयसे छिपे नहीं थे; और उनके लङ्का जलानेका समाचार भी सबको विदित हो गया था। स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने ही सबके सामने उनसे पूछा—'कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥' जिसका उत्तर हनुमान्‌जीने विगत-अभिमान होकर यह दिया कि—

नाघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥

---

१. पाठान्तर—निजनाथ।

फिर क्या वहाँ सुग्रीवजी नहीं थे ? यदि थे तो अङ्गदजीने रावणसे उपर्युक्त वचन क्यों कहे ?

समाधान—अङ्गदजीके 'साँचेहुँ कीस कीन्ह पुर दाहा' और 'सुनि अस बचन सत्य को कहई'—इन वचनोंका तात्पर्य स्पष्ट है। वह यह है कि रावणके नगरको एक 'अल्प कपि' ने जला दिया, इस बातको सुनकर कोई सच्ची नहीं मान सकता; परन्तु जब रावण ही अपने मुखसे इसे स्वीकार कर रहा है, तब इसकी सत्यतामें तिलमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता। इसलिये रावणके मुँहसे 'आवा प्रथम नगरु जेहिं जारा' निकलते ही 'सुनत बचन कह बालिकुमारा' आया है। अर्थात् रावणने अपना नगर जलानेकी बात ज्यों ही स्वीकार की, त्यों ही अङ्गदजीने यह पूछा कि 'क्या सचमुच उस वानरने तुम्हारी लङ्का जला दी ? इसे सुना तो मैंने भी था, परन्तु निश्चित-रूपसे आज ही मालूम हुआ; क्योंकि यदि लङ्का वास्तवमें न जलायी गयी होती तो तुम अपने मुँहसे उसे स्वीकार क्यों करते ? अतः अब मुझे निश्चितरूपसे विदित हो गया कि हनुमान्‌जीने सत्य ही तुम्हारे नगरको जला दिया, जिसके लिये प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें आज्ञा नहीं दी थी। इसी कारण मालूम होता है कि वे लङ्कासे लौटनेपर भयभीतकी तरह श्रीरघुनाथजी अथवा सुग्रीवके सम्मुख न जाकर छिप रहे थे !'

अतः इस भावके अनुसार अङ्गदजी लङ्का जलानेकी बात जाननेका विरोध नहीं करते, बल्कि उसे स्वयं रावणके मुँहसे सुनकर उसपर अपना निश्चित विश्वास प्रकट करते हैं।

अब रही यह बात कि हनुमान्‌जी लङ्कासे लौटनेपर श्रीरघुनाथजी

या सुग्रीवजीसे छिपनेकी चेष्टा कर रहे थे या नहीं ? उसका निर्णय सुन्दरकाण्डके उसी प्रसङ्गमें है। जब हनुमान्जी लङ्कासे लौटकर जाम्बवन्त आदिके साथ सुग्रीवजीके तथा श्रीरघुनाथजीके पास पहुँचे हैं, तब उन्होंने स्वयं कुछ नहीं कहा है, बल्कि जाम्बवन्तजीने सुग्रीवजीसे तथा श्रीरघुनाथजीसे उनकी सफलताका समाचार सुनाया है। उन्होंने सुग्रीवजीसे यह कहा है कि 'नाथ काजु कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना ॥' और फिर श्रीरघुनाथजीसे सुन्दरकाण्ड, दोहा २९ के बाद 'जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया' से लेकर 'सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी' तक हनुमान्जीके कार्योंका वर्णन किया है। तात्पर्य यह कि एकमात्र जाम्बवन्तजीने ही दोनों स्वामियोंके समक्ष हनुमान्जीके समुद्र-लङ्घन एवं लङ्का-दाह आदि समस्त चरित्रोंका वर्णन किया है और श्री-हनुमान्जी स्वामि-आज्ञाके बिना लङ्का जलानेके कारण उस समयतक अवश्य ही भय-सङ्कोचमें पड़े जान पड़ते हैं, तबतक श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं प्रसन्न होकर श्रीसीताजीका कुशल-समाचार पूछनेके बाद लङ्का जलानेके सम्बन्धमें हर्षसूचक वचनोंसे यह नहीं पूछा कि—

कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ॥

इसके नीचेकी चौपाई भी यह प्रमाणित करती है कि पहले हनुमान्जीको लङ्का जलानेके कारण कुछ भय-सङ्कोच अवश्य था, परन्तु अब वे प्रभुकी प्रसन्नता जानकर उससे मुक्त और निर्भय हो गये हैं। यथा—

प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला बचन बिगत अभिमाना ॥

अतः यदि हनुमान्जीको इस बातका खटका न होता कि 'देखें

मेरे लङ्कादाह-कार्यसे प्रभु प्रसन्न होते हैं या रुष्ट, क्योंकि यह कार्य बिना उनकी आज्ञाके किया है,' तो—

प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला बचन बिगत अभिमाना॥

—क्यों कहा जाता ? अस्तु,

इससे अङ्गदजीका रावणके प्रति जो कथन है, वह सर्वांशमें सत्य सिद्ध हो जाता है। उन्होंने रावणके मुँहसे लङ्कादाहका समाचार सुनकर अपना विश्वासमात्र पुष्ट किया है, न कि उसको सुनने और जाननेकी बात अस्वीकार की है। इसी प्रकार लङ्कासे लौटनेपर हनुमान्‌जीकी भयवश छिपनेकी बात भी उन्होंने ठीक कही है। क्योंकि जब हनुमान्‌जी लङ्का जलाकर लौटे, तब वे नीची गरदन किये हुए और सबके पीछे-पीछे छिपते हुए चलकर सुग्रीवजी और श्रीरघुनाथजीके समीप पहुँचे थे और स्वयं उनके सम्मुख अपने कार्योंको प्रकट करना नहीं चाहते थे। भले ही यह उनके विनयका सूचक हो सकता है और है भी यही, क्योंकि 'नमन्ति गुणिनो जनाः।' तथापि उनको उस रूपमें देखकर अङ्गदजीका उपर्युक्त अनुमान भी असङ्गत नहीं कहा जा सकता और उसकी सत्यताकी पुष्टि—

प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला बचन बिगत अभिमाना॥

—से और भी हो जाती है।

शङ्का—ठीक है, इससे यह सिद्ध हुआ कि हनुमान्‌जीने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका आदेश पाये बिना ही लङ्काको जला दिया था। वास्तवमें श्रीरामचन्द्रजीने उनको अपने हाथकी अँगूठी देकर केवल इतना ही आदेश दिया था कि—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु । कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥

इसलिये हनुमान्‌जीका यह कर्तव्य था कि वे केवल प्रभुकी आज्ञाका ही पालन करते । परन्तु उन्होंने उससे बहुत आगे बढ़कर और स्वयं कारण उपस्थित करके लङ्काको जला दिया और वह भी साधारणरूपसे नहीं, बल्कि 'उलटि पलटि लंका सब जारी !' यह कहाँतक सेवा-कार्य हुआ ?

समाधान—श्रीरामगीतावली, सुन्दरकाण्ड, पद-संख्या ५ के अन्तिम भाग—

देबि ! बिनु करतूति कहिबो जानिहैं लघु लोइ ।
कहौंगो मुख की समर सरि कालि कारिख धोइ ॥
करत कछू न बनत हरि हिय हरष सोक समोइ ।
कहत मन तुलसीस लंका करउँ सघन घमोइ ॥

—के अनुसार यह प्रमाणित है कि अशोकतरुके पल्लवोंमें छिपे हुए हनुमान्‌जीने जिस समय माता श्रीसीताजीके प्रति रावणकी असह्य बातोंको कानोंसे सुना और उसके दुष्ट व्यवहारोंको आँखोंसे देखा, उस समय उनके क्रोधकी आग भड़क उठी थी, परन्तु उन्होंने उसे अनवसर जानकर दबा लिया । पीछे जब रावण चला गया, तब वे नीचे उतरकर माता श्रीसीताजीसे मिले और प्रणाम करके यह प्रार्थना की कि 'देवि ! बिना कोई कर्तव्य किये कुछ भी कहना तुच्छता है । अब तो मुझे जो कुछ कहना होगा, उसे कल समर-सरितामें अपने मुँहकी कालिमा धोकर ही कहूँगा । आज तो कुछ करते नहीं बनता, किन्तु मनमें दृढ़ निश्चय हो गया है कि कल लङ्काको जलाकर आगकी ढेरी बना दूँगा ।' अतः हनुमान्‌जीकी वही क्रोधाग्नि स्वामिनी

श्रीसीताजी (जो कि प्रभु श्रीरामजीसे 'गिरा-अर्थ' एवं 'जल-वीचि के समान अभिन्न हैं) की सेवा-निष्ठासे उनके द्वारा रावणकी बुद्धिमें तदनुकूल प्रेरणा उत्पन्न करनेकी सहायतारूपी स्वीकृतिका सङ्केत पाकर लङ्काको भस्मसात् करनेमें प्रकट हुई ! अस्तु, इस प्रकार प्रभु श्रीरामजीकी अर्द्धाङ्गिनी श्रीसीता माताने एक तरहसे स्वयं अपने सच्चे सेवक मारुतिजीकी सेवा-निष्ठाका अनुमोदन लङ्कादाहके रूपमें किया और उसमें उनको सहायता भी प्रदान की । यथा--

बचन सुनत कपि मन मुसुकाना । भइ सहाय सारद मैं जाना ॥

अतएव इससे समझना चाहिये कि लङ्कादाह सेवाके विरुद्ध न होकर सेवाकार्य ही था ।

शङ्का–समझा । परन्तु इसी प्रसङ्गमें अङ्गदजीने 'रावन नगर अल्प कपि दहई' से लेकर 'पठवा खबरि लेन हम सोई' तक जो वचन कहे हैं, उनमें उन्होंने हनुमान्‌जीकी अत्यधिक लघुता प्रदर्शित की है—यहाँतक कह दिया है कि 'सो सुग्रीव केर लघु धावन'! अतः उनकी ये बातें समझमें नहीं आतीं, जब कि समुद्र-लङ्घनके प्रकरणमें 'अंगद कहइ जाउँ मैं पारा । जियँ संसय कछु फिरती बारा ॥'—इस वचनके अनुसार वे स्वयं हनुमान्‌जीके समक्ष अपनी असमर्थता दिखा चुके थे और उसके कुछ ही समय पहले 'दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी' तथा 'मरन भयउ कछु संसय नाहीं' इन वचनोंसे अपनी मृत्युकी भी आशङ्का प्रकट कर चुके थे । फिर उन्होंने अपनी तथा अन्य साथियोंकी जीवन-रक्षा करनेवाले अद्भुत-कर्मा हनुमान्‌जीके सम्बन्धमें ऐसे वचन क्यों कहे ?

समाधान–हनुमान्‌जी जिस प्रकार 'अतुलितबलधाम' हैं, वैसे

ही 'ज्ञानिनामग्रगण्य' भी हैं। सेवक-धर्मकी पूर्ण निष्ठाके अनुसार वे सदा-सर्वदा अपने स्वामियोंके सम्मुख दासभावकी पराकाष्ठाके ही प्रमाण बने रहते हैं। नीची-से-नीची सेवा भी उन्हें महान् महत्त्वका पद प्रतीत होती है। उन्हींके सुसङ्गसे तथा उन्हींके उदाहरणको देखकर अङ्गदजीने भी अपने हृदयकी 'नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ' यह भावना प्रकट की थी और उन्हींके दासभावको (जैसा कि वे लघुतासुलभ मुद्रासे श्रीराम-चरणोंके समीप छोटे बने बैठे थे) देखकर रावण-दूत शुकने लङ्कामें लौटनेके बाद यह बयान दिया था कि 'जेहिं पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बलु थोरा ॥' परन्तु इससे हनुमान्‌जीकी महिमामें कमी नहीं आती और न उनका अपमान ही होता है। वास्तवमें सेवक-निष्ठावाले बड़भागीकी अल्पता एवं लघुताका वर्णन ही उसकी उत्कृष्टता और बड़प्पनका वर्णन है। अतः बिनय-पत्रिकाकी पद-संख्या २५१ के अनुसार हर, हनुमान्, लखन और भरत—ये चार ही सेवा-भावके शिखर गिनाये गये हैं और इसी भावसे अङ्गदजीने हनुमान्‌जीका यथार्थ स्वरूप बतलाया है, जैसी कि उनकी (हनुमान्‌जीकी) निजकी धारणा थी। इसके अतिरिक्त उस प्रकारके वचनोंसे रावणको भी यह समझाना था कि श्रीराम-सेनामें एक ही कपि महाबलशील नहीं है, ताकि उससे उसका हित हो। क्योंकि प्रभु श्रीरामजीने अङ्गदजीको 'काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥' की ही आज्ञा दी थी। अतः उनके वचनोंसे कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये।

सियावर रामचन्द्रकी जय !

२६–भगवान्‌ने सुग्रीव और विभीषणके साथ पक्षपात क्यों किया ?

जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली । फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी । सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी ॥
ते भरतहि भेंटत सनमाने । राजसभाँ रघुबीर बखाने ॥

श्रीरामचरितमानसके उपर्युक्त प्रसङ्गपर लोग बहुधा यह शङ्का किया करते हैं कि 'मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जिस दुष्कर्मके कारण वालीका व्याधकी भाँति वध किया, वही दुष्कर्म पीछेसे सुग्रीव और विभीषणने किया परन्तु प्रभुने उनपर स्वप्नमें भी ध्यान न दिया । भगवान्‌से यह अन्याय कैसे हुआ कि एक ही अपराधपर एकको तो प्राण-दण्ड दिया गया और दूसरोंके उसी अपराधको देखना तो दूर रहा, उल्टा उन्हें सम्मान दिया गया ?' दूसरी शङ्का यह होती है कि जब सुग्रीव और विभीषण दोनों भगवान्‌की शरणमें आ गये और उनकी गणना परम भागवतोंमें हो गयी तो फिर ऐसे भगवद्भक्तोंसे पापरूप असाधु कर्म ही कैसे हुए ?

उपर्युक्त प्रसङ्गपर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देनेसे दोनों ही शङ्काएँ निर्मूल ठहरती हैं; क्योंकि जिस प्रकरणकी पुष्टिमें इन चौपाइयोंका उल्लेख हुआ है, उसकी मुख्य बात उनके ऊपरकी निम्नलिखित चौपाईमें वर्णित है—

कहत नसाइ होइ हियँ नीकी । रीझत राम जानि जन जी की ॥
रहति न प्रभु चित चूक किए की । करत सुरति सय बार हिए की ॥

अर्थ यह है कि 'कहते हुए न बने और हृदयमें अच्छा भाव

हो तो श्रीरामजी उस जनके जी (भीतर) के भावको जानकर रीझ जाते हैं [वचनके बिगड़नेका खयाल नहीं करते]; पुनः प्रभु श्रीरामजीके चित्तमें कियेकी अर्थात् करतबकी भी चूक नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि कर्मके बिगड़नेका भी प्रभुको खयाल नहीं होता, बल्कि उसके हृदयकी ही स्थितिको सैकड़ों बार याद किया करते हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि मन, वचन और कर्म—इन तीनोंमेंसे यदि केवल मनका भाव ठीक हो और वचन और कर्मसे चूक भी हो जाय तो अन्तर्यामी श्रीरामजी उस जनके मनकी ही दशाका स्मरण करके उसके वचन और कर्मकी चूकपर ध्यान नहीं देते। इसकी पुष्टि श्रीग्रन्थकारकृत रामदोहावलीके इस दोहेसे भी हो रही है—

> वचन करम से जो बनै, सो बिगरै परिनाम।
> तुलसी मन से जो बनै बनी बनाई राम॥

अर्थात् वचन और कर्मसे जो बाहरी बनावट होती है, दिखौआ आचार होता है, वह [मनमें कपट रहनेसे] परिणाममें बिगड़ेगा ही; जैसे—

> उघरहिं अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥

—तथा जिनका मन शुद्ध होता है, उनके वचन-वेषकी प्रतिकूलता कदापि बाधक नहीं सिद्ध होती; जैसे—

> किएँ कुबेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥

—अतएव गोस्वामीजी कहते हैं कि मनसे जो ठीक बन जाती है, वह मानो श्रीरामजीकी ही बनायी बनी है, कभी बिगड़नेकी नहीं और श्रीरामजी बारंबार अपने जनके हृदयकी अनुकूलताका ही स्मरण कर उसपर रीझते हैं, क्योंकि प्रभुका यही स्वभाव है। जैसे—

'मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।'

——तथा गीतावलीमें——

पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं, सकल सभा पतियाउ ।
नाहिन प्रिय कोउ मोहि दास सम, कपट प्रीति बहि जाउ ॥

अतएव अन्तर्यामी प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने अपने इसी स्वभावके प्रमाणस्वरूप सुग्रीव और विभीषणके साथ अपने विरदको स्पष्ट कर दिखाया। उन दोनोंके हृदयकी अनुकूलताके कारण उनके कर्त्तव्यकी चूकपर कभी भूलकर भी आपने निगाह न डाली, बल्कि श्रीभरतजी-सरीखे भक्तशिरोमणिसे भेंट करते समय एवं राजसभामें उनका श्री-मुखसे (वचनोंद्वारा) सम्मान किया। इस प्रसङ्गमें निम्नाङ्कित दोहा भी इसी अभिप्रायकी पुष्टि कर रहा है—

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान ।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान ॥

अर्थात् 'स्वामी श्रीरामजी तो वृक्षके नीचे बैठे हैं और सेवक कपि-समाज वृक्षोंपर उनसे ऊँचे चढ़कर बैठा है [जो उचित नहीं]; परन्तु अन्तर्यामी प्रभुने उन कपियोंके हृदयकी अनुकूलताको देखकर उनके इस कर्त्तव्यकी चूक (कुचाली) पर कुछ भी ध्यान न देकर उन्हें अपने समान जगत्-पूज्य बना दिया ! भला, श्रीरामजी-सरीखा शीलनिधान स्वामी कौन होगा ?' जगत्में और जितने सुस्वामी होते हैं, वे अन्तर्यामी न होनेके कारण वचन और कर्मको ही देखकर (सेवककी) प्रीतिकी पहचान करते हैं—

यथा—

लोकहुँ बेद सुसाहिब रीती । बिनय सुनत पहिचानत प्रीती ॥

परन्तु महाराज श्रीरामचन्द्रजी तो सेवकके अन्तरके भावोंके भी ज्ञाता हैं; अतः वे हृदयकी ही बातपर ध्यान देकर प्रसन्न रहते हैं, कर्त्तव्यकी चूकको कुछ भी नहीं गिनते।

अब यदि मुख्य प्रसङ्गमें वर्णित दोनों पात्रों सुग्रीव और विभीषणके हृदयकी अनुकूलता (शुद्धता) तथा केवल कर्त्तव्यकी चूकके प्रमाणको स्पष्ट कर दिया जाय तो यह प्रकरण और साफ हो जायगा। पहले सुग्रीवको ही लीजिये। जब श्रीरामजीके अमित ऐश्वर्यको देखकर सुग्रीवके हृदयमें ज्ञानका उदय हुआ और प्रभुकी कृपासे उनका मन स्थिर हो गया, तब उन्होंने अपनी समस्त कामनाओंको हृदयसे निकालकर फेंक दिया तथा सुख, सम्पत्ति, परिवार और बड़ाई—चारों वस्तुओंको, जिन्हें वालीने छीन लिया था, उन्होंने त्याग दिया और केवल श्रीराम-भजनपर आरूढ़ होनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा की। जैसे—

उपजा ग्यान बचन तब बोला। नाथ कृपाँ मन भयउ अलोला॥
सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥
ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥
वालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥
सपनें जेहि सन होइ लराई। जागें समुझत मन सकुचाई॥
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

सुग्रीवकी इस दृढ़ प्रतिज्ञाकी सत्यताका प्रमाण भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे दे रहे हैं—

जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥

यदि सुग्रीवके हृदयमें कपट-वासना होती तो अन्तर्यामी प्रभुके

श्रीमुखसे ऐसी बात न निकलती, अतः इसे सुग्रीवके हृदयकी शुद्धता (अनुकूलता) का सर्टिफिकेट समझना चाहिये। सुग्रीवने तो अपनी ओरसे अपना सर्वस्व-त्याग कर ही दिया था, उनकी प्रवृत्ति तो स्वामीके आज्ञा-पालनके लिये ही हुई थी। इसी कारणसे जब चातुर्मासके व्यतीत होनेपर सुग्रीव श्रीलखनलालजीके साथ श्रीरामजीके समीप आये, उस समय उन्होंने—'मैं पामर पसु कपि अति कामी' तथा 'बिषय मोर हर लीन्हेउ ग्याना'—इत्यादि वचनोंद्वारा अपनेको सब प्रकारसे दोषी ठहराकर भगवान्‌से प्रार्थना की तो भगवान् उनकी दीनतापर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनकी भरतजीसे समता करने लगे—

तब रघुपति बोले मुसुकाई। तुम्ह प्रिय मोहि भरत सम भाई॥

इस कथनद्वारा यह सूचित किया गया है कि जिस प्रकार श्रीभरतजीने निर्दोष होते हुए अपनेको ही सब अनर्थोंका कारण माना है, उसी प्रकार सुग्रीवने भी माना है। भाव यह है कि सुग्रीव तो सर्व-त्याग कर भगवान्‌के भजनपर ही आरूढ़ थे, केवल भगवत्प्रेरणासे उन्होंने प्रवृत्ति स्वीकार की थी; तथापि उन्होंने भगवान्‌के सामने अपने दोषोंके लिये निजको ही अपराधी स्वीकार किया। यही कारण है कि भगवान्‌ने उनसे कहा—'तुम्ह प्रिय मोहि भरत सम भाई।' अर्थात् 'भाई! तुम भरतजीके समान शुद्धहृदय होनेके कारण उन्हींके समान मुझे प्रिय हो।' इससे सिद्ध होता है कि सुग्रीवका हृदय सर्वथा विकारहीन था।

अब विभीषणजीको लीजिये, उनकी शुद्धहृदयताके अनेक प्रमाण हैं।

यथा—

गए बिभीषन पास पुनि कहेउ पुत्र बर मागु।
तेहिं मागेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु॥

तथा—

'साधु ते होइ न कारज हानी।'
'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें॥'

—इत्यादि

इसके साथ भगवान्‌के श्रीमुखसे इस प्रमाणकी स्पष्ट पुष्टि हो जाती है। जब विभीषणने शरणागतिके समय भगवान्‌से प्रार्थना की—

'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥'

—तब अन्तर्यामी परमप्रभुने सही कर दी कि—

'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥'

यदि सचमुच विभीषणमें पूर्ण वैराग्य न होता तो अन्तर्यामी भगवान्‌के श्रीमुखसे 'तव इच्छा नाहीं' का सर्टिफिकेट उन्हें न मिलता।

अतः श्रीविभीषणजी अपनी सर्व इच्छाओंका त्याग कर कहते हैं—

अब कृपालु निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥

—तथा इसी दशामें उन्हें स्वामीकी इच्छाद्वारा राज्याभिषेक हुआ है। अतः सुग्रीव और विभीषण दोनों भक्तोंके हृदयोंमें निष्कामता तथा भगवद्भक्तिकी अनुकूलता सिद्ध है, तथा दोनोंने अपने स्वामीकी आज्ञासे प्रवृत्ति स्वीकार कर आज्ञा-पालनरूप सेवा शिरोधार्य की है।

वाली यथार्थमें विरक्त तथा भगवद्भक्त न था। उसने जो कुछ किया, अपनी ही इच्छासे तथा कर्तृत्वाभिमानवश किया है; अतः

उसके कार्योंमें उसका हृदय भी शामिल था। इसलिये उसे अपने कियेका फल भोगना पड़ा है और यही रहस्य है कि वालीके कर्मके लिये ग्रन्थकारने स्पष्ट 'अघ' शब्दका प्रयोग किया है।

यथा—

'जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली।'

क्योंकि जो पाप जान-बूझकर इच्छापूर्वक किया जाता है, वह 'चूक' न होकर 'अघ' कहलाता है और अवश्यमेव भोक्तव्य होता है। किन्तु जो पुरुष अपनी इच्छासे नहीं बल्कि पर-प्रेरणा, स्वामी-आज्ञा अथवा अन्य किसी संयोगवश कुचालमें पड़ जाता है तो वह किसी अंशमें अपराधकी कोटिमें माना जा सकता है, जो सदा ही क्षम्य हो सकता है। इसी रहस्यसे सुग्रीव और विभीषणके लिये 'अघ' शब्दका प्रयोग न कर केवल 'कुचाली' और 'करतूति' शब्दोंका प्रयोग हुआ है अर्थात् केवल कर्मकी ही चूकको सूचित करते हुए हृदयकी शुद्धताकी ओर संकेत किया गया है। वालीके 'अघ' शब्दमें हियकी विकरालता सूचित होती है। सोइ कुचाली तथा सोइ करतूति शब्द केवल कर्म-इन्द्रियोंसे किये जानेवाले कार्योंसे ऐक्य सूचित कर रहे हैं, हृदयकी अवस्थाकी सूचना नहीं देते। अतः इन भक्तोंके हियेकी सुरति करके इनके कियेकी चूकपर प्रभुने अपने 'बिरद-सँभार' गुणके कारण स्वप्नमें भी ध्यान नहीं दिया, जैसा उपर्युक्त प्रसङ्गमें कहा गया है।

इस प्रकरणमें शब्दोंके आशय, पूर्वापर-प्रसङ्गोंके विचार तथा उपर्युक्त प्रमाणोंद्वारा वालीकी अघ- (पाप) शीलता और इन दोनों भागवतोंकी निर्विकारताका अन्तर भलीभाँति स्पष्ट हो जानेपर भी

यदि कुछ और सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर यह शङ्का हो कि इनके हृदयोंके शुद्ध होनेपर भी कर्मेन्द्रियोंद्वारा इनसे कुचाल क्यों हुई तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि वाली और रावण दोनों भगवद्विमुख, अघी और अभिमानी पुरुष थे तथापि इन दोनोंकी रानियाँ तारा और मन्दोदरी धर्मात्मा तथा भगवद्भक्ता थीं, जैसा कि इनके चरित्रोंसे स्पष्ट होता है। दोनोंने अपने पतियोंको वारंवार समझाकर हार मानी है। यही कारण है कि तारा और मन्दोदरीकी भक्ति देख प्रभुने ऐसा किया।

यथा—

> पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
> सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

अतः राज्याभिषेकके समय महाराज श्रीरामचन्द्रजीने ताराको सुग्रीवकी पटरानी तथा मन्दोदरीको विभीषणकी पटरानी बनाकर इन दोनोंको राजगद्दीपर बैठाया, अतः इस प्रकरणपर इन भागवतोंपर आक्षेप करना उचित नहीं; क्योंकि यहाँ अवसर ही ऐसा है। अतः संत-महात्माओंद्वारा वालीकी भाँति पाप-कर्म कैसे हो गये, यह शङ्का जिज्ञासुओंके हृदयसे उपर्युक्त प्रमाणोंद्वारा निर्मूल हो जायगी—ऐसी आशा है। क्योंकि वाली और इन महात्माओंके विचारमें महान् अन्तर है।

अब दूसरी शङ्का यह है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने वाली तथा इन दोनों भागवतोंके साथ एक ही प्रकारका बर्ताव क्यों नहीं

किया। इसका समाधान प्रभुका विरद ही है; क्योंकि भगवान् जिसका जैसा हृदय होता है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करते हैं। फिर भक्तोंके लिये तो क्या कहना है ?

जैसे—

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥

तथा—

समदरसी मोहि कह सब कोई। सेवक प्रिय अनन्यगति सोई॥

पुनः—

जाके हौं हित सब प्रकार, चित नाहिन आन उपाव।
तिनहि लागि धरि देह करौं सब, डरौं न सुजस नसाव॥

फिर सुग्रीव और विभीषणने तो प्रभुकी ही आज्ञा मानकर तारा और मन्दोदरीको पटरानीके रूपमें स्वीकार किया था, तब उन्हें वालीके समान दण्ड क्यों दिया जाता ? एक अपराधीको किसीकी हत्या करनेके कारण फाँसीपर चढ़ाया जाता है; परन्तु क्या जल्लादको, जो स्वामीकी आज्ञासे अपराधीको फाँसीपर ले जाता है, कभी उसका स्वामी हत्याका अपराधी बना दण्ड दे सकता है ? कदापि नहीं। क्योंकि जल्लाद तो वह काम स्वामीके आज्ञा-पालनरूपमें कर रहा है; तब भला, उसपर जुर्म ही क्योंकर लगाया जा सकता है ?

अब यह बात रही कि श्रीप्रभु तो धर्म-संस्थापनके लिये ही अवतीर्ण हुए थे, फिर तारा और मन्दोदरीको पुनः सुग्रीव और विभीषणकी पटरानी बना धर्मशास्त्र-विरुद्ध कार्य क्यों किया। उत्तर यह है कि—

तारा और मन्दोदरी—इन दोनोंका अवतार पञ्चकन्याओंमें है। जैसे—

अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा।
पञ्च कन्याः स्मरेन्नित्यं सर्वपातकनाशनम्॥

अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती तथा मन्दोदरी—ये पञ्च कन्याएँ प्रातःस्मरणीया हैं। इनका यह महत्त्व विख्यात है कि जब इनके पति परधाम जायँ तो इनकी गणना कुँआरी कन्याओंमें हो। इसीलिये इनको पञ्चकन्याकी पदवी प्राप्त है। अतः प्रभुने राज्याभिषेकमें इन्हें ही पटरानी बनाया।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रसङ्गको लेकर भगवत् और भागवत दोनोंमें लाञ्छनकी शङ्का निर्मूल है। हाँ, कोई विश्वास न रक्खे तो दूसरी बात है; परन्तु यह निःसन्देह है कि भगवत् और भागवतके कोई भी कर्तव्य लाञ्छनीय नहीं हो सकते।

सियावर रामचन्द्रकी जय!
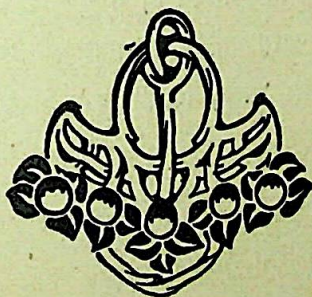
२७—सौ करोड़ योद्धा एक ही साथ लक्ष्मणजीके शरीरमें कैसे लगे ?

शङ्का—लक्ष्मण-मेघनाद-युद्धके प्रसङ्गमें यह दोहा आया है—

मेघनाद सम कोटि सत जोधा रहे उठाइ ।
जगदाधार सेष किमि उठै चले खिसिआइ ॥

इसका अर्थ यह है कि 'श्रीलक्ष्मणजीके मूर्च्छित शरीरको मेघनादके समान सौ करोड़ योद्धा उठाकर रह गये । परन्तु जगत्के आधार शेषजी (लक्ष्मणजी) उनसे कैसे उठ सकते थे ? इसलिये वे सब योद्धा लजाकर चले गये ।'

यहाँ यह शङ्का होती है कि केवल मेघनाद ही एक बहुत बड़ा वीर और विशालकाय योद्धा था, फिर उसके समान सौ करोड़ योद्धा किस प्रकार एक साथ श्रीलक्ष्मणजीके शरीरको उठानेमें लग गये ? यदि यह कहा जाय कि उन्होंने पृथक्-पृथक् उठाया तो उतने समयतक श्रीरामदलके लोग श्रीलक्ष्मणजीकी ओरसे बेखबर रहे ? क्या मेघनादके समान सौ करोड़ योद्धा लङ्कामें थे ? जिस मेघनादकी समतामें श्रीलक्ष्मणजीके सिवा किसी औरको नहीं ठहराया गया, जिस मेघनादसे इन्द्रादि देवगण भी पराजय पा चुके थे, जो मेघनाद लङ्कामें एक ही वीर गिना जाता था, उसके समान सौ करोड़ योद्धा और कहाँसे आ गये और उन्होंने किस प्रकार श्रीलक्ष्मणजीके शरीरमें हाथ लगाया ?

समाधान—प्रश्न ठीक है । बालकाण्डके रावण-दिग्विजय-प्रकरणमें भी ये चौपाइयाँ आती हैं—

अतिबल कुंभकरन अस भ्राता । जेहि कहुँ नहिं प्रतिभट जग जाता ॥

× × × ×

बारिदनाद जेठ सुत तासू । भट महुँ प्रथम लीक जग जासू ॥

इसलिये यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मेघनादके समान सौ करोड़ योद्धा कहाँसे आ गये और उन्होंने किस प्रकार श्री-लक्ष्मणजीके शरीरको उठानेकी चेष्टा की । परन्तु ऐसी शङ्काएँ तभीतक उत्पन्न होती हैं, जबतक हम केवल अपनी मानवीय बुद्धिसे तात्पर्य निकालनेकी चेष्टा करते हैं; फलतः जहाँ अपनी बुद्धि काम नहीं करती, वहाँ हम अतिशयोक्ति मान लेते हैं । श्रीमानसजीके यथार्थ अर्थका बोध तो तभी होता है, जब श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनकी शरण ग्रहण कर ली जाती है । तब तो श्रीमानसजीकी कृपासे विनय-पत्रिकाकी 'असुझ सुझाव सो' और मानसकी 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई' ये पङ्क्तियाँ स्वभावतः चरितार्थ हो जाती हैं । अस्तु,

इस शङ्काके समाधानमें मुझ 'दीन'की ओरसे जो कुछ निवेदन किया जायगा, उसका आधार श्रीमानसजीकी कृपा ही है । मेरी समझसे रावण-दिग्विजय-प्रकरणकी उपर्युक्त चौपाइयोंके नीचेकी चौपाई और दोहेपर ध्यान देनेसे सब बातें स्पष्ट हो जाती हैं । उनको पढ़नेपर यह विदित हो जाता है कि संसारके और किसी भागमें कुम्भकर्ण और मेघनादके समान कोई वीर नहीं था, परन्तु लङ्कामें उनके-जैसे अगणित वीर थे । यथा—

जेहि न होइ रन सनमुख कोई । सुरपुर नितहिं परावन होई ॥

कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय ।
एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय ॥

तात्पर्य यह है कि रणमें मेघनादका सामना कोई भी नहीं कर सकता था, स्वर्गमें तो उसके भयसे नित्य भगदड़ मची रहती थी; लेकिन भीमकाय कुम्भकर्ण और महाबली मेघनादके अतिरिक्त भी दुर्मुख, अकम्पन, वज्रदन्त, धूमकेतु, अतिकाय आदि ऐसे अनेक योद्धा थे, जो अकेले ही सारे जगत्‌को जीत सकते थे। अतः दोहेका 'ऐसे सुभट निकाय' पद 'मेघनाद सम कोटि सत जोधा' इस उक्तिकी सत्यता सिद्ध कर देता है। अब उसकी पुष्टिके लिये कुछ और खोज कीजिये। लङ्काकाण्डका निम्नलिखित छन्दार्द्ध और उसके बादका दोहा (दोहा १०१) देखिये—

श्रीराम रावन समर चरित अनेक कल्प जो गावहीं।
सत सेष सारद निगम कबि तेउ तदपि पार न पावहीं॥
ताके गुन गन कछु कहे जड़मति तुलसीदास।
जिमि निज बल अनुरूप ते माछी उड़इ अकास॥

श्रीराम-रावण-युद्ध केवल ३२ दिनतक हुआ था। लेकिन हजार मुखवाले सैकड़ों शेषनाग, अमित वाग्विशारदा सरस्वती, अनुपम-शक्तिसम्पन्न अपौरुषेय वेद और शुकादि मनीषिगण यदि उस श्रीराम-रावण-युद्धका कथन बत्तीस वर्ष नहीं, बत्तीस युग नहीं, अनेक कल्पोंतक अहर्निश करते रहें, तब भी पार नहीं पा सकते। यह क्यों? इसलिये कि असीमकी सीमा, अथाहकी थाह और अमितकी मिति नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ श्रीरामदल और रावणदलकी संख्या तथा बलविषयक उक्तियोंको देखिये—

श्रीरामदलकी संख्या—'सो मूरुख जो करन चह लेखा!'

रावणदलकी संख्या—'गनै को पार निसाचर जाती!'

श्रीरामदलका बल—'अस कपि एक न सेना माहीं। जो न तुम्हहि जीतै रन माहीं ॥'

रावणदलका बल—

'एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय।'

इन उक्तियोंसे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीरामदल तथा रावण-दलकी संख्या और बलका वर्णन नहीं किया जा सकता। न तो संख्याकी कोई गणना है और न एक-एक वीरके बलकी कोई इति है। सब कुछ अकथनीय है। इसीलिये ग्रन्थकार श्रीतुलसीदासजीने दोहेमें 'कछु' शब्द देकर यह व्यक्त किया है कि उस समर-चरित्रकी केवल दो बातें ही कही जा सकी हैं, अर्थात् रामदलमेंसे केवल दो वीर—अङ्गद और हनुमान्, तथा रावणदलमेंसे भी केवल दो वीर—कुम्भकर्ण और मेघनाद—ले लिये गये और प्रधानतया उन्हींके समर-चरित्रका वर्णन करनेकी इच्छा हुई। लेकिन जब देखा गया कि उनके भी पूर्ण पुरुषार्थका वर्णन नहीं हो सकता, तब उनके एक-एक अङ्गविशेषका चरित्र ले लिया गया। अर्थात् श्रीअङ्गदजीके केवल पद (लात) का बल, श्रीहनुमान्जीके हाथकी मुट्ठी (मुष्टिक) का बल और इसी प्रकार कुम्भकर्णका एकमात्र शारीरिक बल तथा मेघनादका केवल मायिक बल वर्णन किया गया और उसीका बड़ा विस्तार हो गया। अब क्रमशः इन सबके प्रमाण देख लिये जायँ। पहले अङ्गदजीके पदबलका प्रमाण—

'सभा माझ पन करि पद रोपा।'

'जौं मम चरन सकसि सठ टारी।'

'भूमि न छाँड़त कपि चरन।'

'अस कहि अंगद मारा लाता।'

'गहि भूमि पारेउ लात मारेउ बालिसुत प्रभु पहँ गयो।'

अब श्रीहनुमान्‌जीके मुष्टिकबलका प्रमाण लीजिये—

'मुष्टिक मारि चढ़ा तरु जाई।'
'मुठिका एक ताहि कपि हनी।'
'तब मारुतसुत मुठिका हनेऊ।'
'मुठिका एक ताहि कपि मारा।'

इस प्रकार श्रीहनुमान्‌जीके मुष्टिकबलके अनेकों प्रमाण हैं। अब कुम्भकर्णके एकमात्र शारीरिक बलका प्रमाण देखिये—

'कुंभकरन दुर्मद रन रंगा। चला दुर्ग तजि सेन न संगा॥'
'नाथ भूधराकार सरीरा। कुंभकरन आवत रनधीरा॥'
मुर्‌यो न मनु तनु टर्‌यो न टार्‌यो। जिमि गज अर्क फलनि को मार्‌यो॥'
'कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा। कोटिन्ह मीजि मिलव महि गर्दा॥'
'धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा। तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा॥'

कुम्भकर्णका सिर कट गया था, परन्तु फिर भी उसका धड़ दौड़ रहा था और उससे पृथ्वी धसकती जाती थी। जब उस धड़के श्रीरामचन्द्रजीने काटकर दो खण्ड कर दिये, तब उसकी मृत्यु हुई। इतना पराक्रमशाली था कुम्भकर्णका शरीर! अब मेघनादके मायाबलका प्रमाण शेष है—

'उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया। जीति न जाइ प्रभंजन जाया॥'
(सुन्दरकाण्ड)

'देखि प्रताप मूढ़ खिसिआना। करै लाग माया बिधि नाना॥'
(लङ्काकाण्ड)

'जासु प्रबल माया बस सिव बिरंचि बड़ छोट।
ताहि दिखावइ निसिचर निज माया मति खोट।'

'कपि अकुलाने माया देखें। सब कर मरन बना एहि लेखें॥'
'एक बान काटी सब माया। जिमि दिनकर हर तिमिर निकाया॥'

'मेघनाद मायामय रथ चढ़ि गयउ अकास।
गर्जेउ अट्टहास करि भइ कपि कटकहि त्रास॥'

'अवघट घाट बाट गिरि कंदर। माया बल कीन्हेसि सर पंजर॥'

अस्तु, दोनों दलोंके असंख्य सेनानियोंमेंसे केवल दो-दो वीरोंके एक-एक अङ्गके बलका यत्किञ्चित् वर्णन करनेके कारण ही 'ताके गुन गन कछु कहे जड़मति तुलसीदास' कहा गया है। इतनेसे 'कछु' का भाव तो प्रकट हो गया, अब अपनेको 'जड़मति' क्यों कहा गया—इसपर विचार करना है। श्रीग्रन्थकारका भाव यह है कि "मैं स्वामी श्रीरामजीका सेवक हूँ। मुझे अपने स्वामीके ऐश्वर्य अथवा माधुर्यका वर्णन करना था तो उचित यह था कि अधिकाधिक उत्तमताके साथ साङ्गोपाङ्ग वर्णन करता। क्योंकि उच्च बुद्धिवाले सेवक अपने स्वामीके बल-वैभवको बढ़ा-चढ़ाकर ही कहते हैं। परन्तु मेरे-जैसे साधारण बुद्धिवालेने बढ़ा-चढ़ाकर कहनेकी बात कौन कहे, अपने स्वामीके वास्तविक चरित्रका कोट्यंश भी नहीं कहा। इसलिये ऐसा अयोग्य कार्य करनेके नाते मैं अवश्य ही 'जड़मति' हूँ।"

अतएव इन सब प्रसङ्गोंको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे निःसन्देह यह सिद्ध हो जाता है कि लङ्कामें मेघनादके समान करोड़ों (अगणित) योद्धा थे और इसीलिये 'मेघनाद सम कोटि सत जोधा रहे उठाइ' कहा गया है।

अब रही यह शङ्का कि केवल मेघनाद ही एक बड़े वीर और विशालकाय योद्धा थे, उनके-जैसे करोड़ों योद्धाओंने एक साथ कैसे श्रीलक्ष्मणजीके शरीरको उठानेकी चेष्टा की। इसका समाधान यह है कि श्रीलक्ष्मणजी साक्षात् श्रीशेषके अवतार थे। उनके दिव्य विग्रहमें बढ़ने-घटने आदिकी सामर्थ्य थी। उन प्रभुने यदि अपना विस्तार बढ़ाकर एक साथ करोड़ों राक्षसोंके सामने ऐश्वर्य प्रकट किया और इस प्रकार उनका मान-मर्दन किया तो इसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है। लीला ही करनेके लिये प्रभु अवतरित हुए थे। और प्रभुके लिये कोई लीला असाध्य नहीं है। असाध्य है उनकी लीलाओंका पार पाना! इसलिये हमें प्रभुकी लीलामें किसी प्रकारका सन्देह नहीं करना चाहिये।

श्रीलक्ष्मणजीके शरीरको सब राक्षसोंने एक साथ ही उठानेकी चेष्टा की। पृथक्-पृथक् उठानेका प्रसङ्ग ही नहीं है। पृथक्-पृथक् उठानेका अर्थ करनेसे शरीरकी गुरुताका ऐश्वर्य प्रकट नहीं होता और तभी यह शङ्का पैदा होती है कि एक-एक करके उन सभी राक्षसोंके उठानेतक श्रीराम-दलके लोग श्रीलक्ष्मणजीकी ओरसे क्यों और कैसे बेखबर रहे! यह शङ्का सर्वथा निर्मूल है। श्रीरामजीको अपने दलकी खबर बराबर रहती थी। ज्यों ही दल लौटा है, त्यों ही 'लछिमन कहाँ बूझ करुनाकर' और 'तब लगि लै आयउ हनुमाना' आया है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीरामदलके लोग क्षणभरके लिये भी श्रीलक्ष्मणजीकी ओरसे बेखबर नहीं थे।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

२८—श्रीरामका विलाप

श्रीलखनलालजीको शक्ति लगनेपर मूर्च्छित हुआ देख श्रीरामचन्द्रजीके विलापके प्रसङ्गमें निम्नाङ्कित चौपाइयोंपर बहुधा विविध प्रकारके अर्थ सुने जाते हैं, परन्तु उनसे श्रीमानस-जिज्ञासुओंकी पिपासा शान्त नहीं होती; कल्याणके पाठकोंकी सेवामें श्रीरामजीके प्रेरणानुसार यथामति इनका यथार्थ भाव समर्पित किया जा रहा है—

जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥

अस बिचारि जियँ जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥

यह तो सभी जानते हैं कि परम प्रभु श्रीरामचन्द्रजी जगत्के कल्याणार्थ जो लीलाएँ करते हैं, यह लीला भी उन्हींमेंसे एक है। इस प्रसङ्गके प्रारम्भमें ही श्रीग्रन्थकारने लिख दिया है कि—

उहाँ राम लछिमनहि निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी॥

परन्तु 'मनुज अनुसारी' पदका अर्थ करते समय यह खयाल रखना होगा कि वह अर्थ श्रीमर्यादापुरुषोत्तमके अवतारकी मर्यादासे बाहर न हो। बहुत-से सज्जन यहाँ यह अभिप्राय लेते हैं कि 'विलाप करनेकी अवस्थामें हृदयमें शोककी अधिकताके कारण उन्मादवश अनर्गल शब्द निकल ही जाते हैं और इसी कारण श्रीरामचन्द्रजीके मुखसे भी वैसी ही लीला करते समय ये निरर्थक शब्द निकल गये हैं।' परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि श्रीरघुनाथजी-ने माधुर्य-लीलामें भी परम धीर, सत्यवादी और सत्यधर्मी पुण्यश्लोकके ही आचारको अपने चरित्रद्वारा प्रकट किया है। यथा—'सत्यवाक्यो दृढव्रतः' (मूलरामायण श्लोक २)। अतः श्रीराम-चन्द्रजीकी किसी भी अवस्थाके चरित्रमें विपरीत भावना संगत नहीं हो सकती। श्रीमानसके अर्थमें इस भावकी रक्षा करते हुए ही अर्थ करना उचित होगा, क्योंकि—

जे गावहिं यह चरित सँभारे। ते एहि ताल चतुर रखवारे॥

उपर्युक्त चौपाइयोंका साधारणतः भावार्थ यही होता है—'श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं कि जो हम जानते कि वनमें भाईसे विछोह होगा तो पिताजीका वह (ओहू) वचन न मानते।' यहाँ 'ओहू'

का अभिप्राय है वह पहला वचन नहीं मानते, केवल दूसरा वचन मानकर ही शृङ्गवेरपुरसे गङ्गास्नान कर वनको देखकर ही अयोध्या लौट जाते।'

'ओहू' शब्द यहाँ 'यह' और 'वह' दो निश्चयवाचक सर्वनामों-की अपेक्षा करता है; क्योंकि 'वह' बिना 'यह' की अपेक्षाके नहीं प्रयुक्त हो सकता। इसलिये 'यह' तथा 'वह' दोनोंके निर्देशके लिये दो वाक्योंका अनुसन्धान करना ही होगा! श्रीरामचन्द्रजीके वनगमनके सम्बन्धमें श्रीदशरथजी महाराजके दो वचन प्रमाण भी हैं। पहला तो श्रीकैकेयीजीके वर-याचनानुसार चौदह वर्षोंके लिये श्रीरामचन्द्रजीको वनवास देनेके सम्बन्धमें है—जिसके निर्देशके लिये 'वह' संकेत हुआ है, जो दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम है। 'वह' के द्वारा निर्देशित प्रथम वचनके प्रमाण हैं—

'हम पितु बचन मानि बन आए।'
'मोहि दीन्ह पितु आयसु आना।'
'पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर।'
'पिता वचन तजि राज उदासी। दंडक बन बिचरत अबिनासी॥'

—इत्यादि

दूसरा वचन वनको पयान करते समय श्रीसुमन्तजीके प्रति महाराजने कहा था—

सुठि सुकुमार कुमार दोउ जनकसुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गएँ दिन चारि॥

—इसी वचनको शृङ्गवेरपुर पहुँचनेपर श्रीसुमन्तजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा था—

बन देखाइ सुरसरि अन्हवाईं। आनेहु फेरि बेगि दोउ भाईं॥
लखनु रामु सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥
नृप अस कहेउ गोसाइँ जस कहइ करौं बलि सोइ।

अभिप्राय यह है कि श्रीरामचन्द्रजी इसी वचनको माननेका संकेत कर उस प्रथम वचन, चौदह वर्षके लिये वनवासकी आज्ञाके नहीं माननेका निर्देश कर रहे हैं। इस प्रकारके भावार्थमें यह विवेक स्पष्ट बना रहता है कि पिताका वचन मानना पुत्रका धर्म है। और यहाँ पिताके दो वचन वनसम्बन्धी आते हैं—पहला चौदह वर्षके वनवासका तथा दूसरा शृङ्गवेरपुरसे ही गङ्गा-स्नान कर वन देखकर लौट आनेका; इनमेंसे कोई भी माननेसे पितृ-आज्ञाका पालन हो जाता है। इसीका लक्ष्य कर श्रीरामचन्द्रजी कह रहे हैं कि 'यदि मैं जानता कि वनमें बन्धुका बिछोह होगा तो पिताके उस वचन अर्थात् चौदह वर्षके वनवासकी आज्ञाको न मानता, दूसरे वचनको मानकर शृङ्गवेरपुरसे लौट जाता।' धर्मात्मा पुरुषोंके पश्चात्तापमें भी धर्मच्युति अथवा धर्म-विरोधका भाव नहीं झलकता, यही तो गौरव है।

इस 'ओहू' शब्दके और भी भावार्थ लिये जाते हैं। कुछ सज्जन कहते हैं कि बालकपनमें एक बार मेघनाद घड़ियालका रूप धारण कर सरयूके किनारे आया था। उसी समय श्रीरामचन्द्रजी-ने उसे मार डाला होता, परन्तु पिताकी आज्ञासे नहीं मारा था; उसीको स्मरण कर श्रीरघुनाथजी कह रहे हैं कि 'पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू।' कुछ लोग 'ओहू' से श्रीलखनलालजीके वन चलनेके जिदको और कुछ लोग श्रीसीताजीकी कनकमृग मारकर

लानेकी प्रार्थनाको अभिप्रेत समझते हैं, अर्थात् श्रीलखनलालको वन नहीं लाते, तथा कनकमृगको मारने नहीं जाते—यह आशय लेते हैं, जो सङ्गत नहीं जान पड़ता, क्योंकि वह वचन पिताके वनगमनके सम्बन्धमें होना चाहिये और ये प्रसङ्ग ही दूसरे हैं। इसके अतिरिक्त इन भावोंके लेनेमें पितृ-अवज्ञा होती है, जो मर्यादापुरुषोत्तमकी मर्यादाके विरुद्ध है। 'जो जनतेउँ बन बंधु बिछोहू' अर्थात् यदि वनमें आनेसे बन्धु-बिछोह होगा, इसे मैं जानता—यहाँ वनका स्पष्ट उल्लेख है; इसलिये बाल्यावस्थाकी मेघनादकी दन्तकथाका इससे कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता। फिर यदि 'ओहू' का अभिप्राय लखनलालका वन आनेके समयका हठ मान लें तो 'पिता बचन' का अर्थ छूट जाता है, अतएव दोनों प्रसङ्गोंमें पितृ-अवज्ञा हो जाती है। जानकीजीका कनकमृगके मारनेका वचन तो वनमें आनेके दस-बारह वर्ष बादका है, अतः यह अर्थ भी सङ्गत नहीं। इसलिये पिताके ही दोनों वचनोंमेंसे, जो वन-गमन-सम्बन्धी थे, पहला न मानकर पिछला ही माननेका सङ्केत इन चौपाइयोंमें मालूम होता है, तथा धर्मतः इसमें कोई विरोध भी नहीं आता।

इसी प्रकार 'सहोदर भ्राता' पर जो शङ्का की जाती है, विचारसे वह भी निर्मूल ठहरती है। यहाँ जिस भावको लक्ष्य कर 'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता' कहा गया है, उसका लक्ष्य पिताके ही सम्बन्धसे है। श्रीरामजी कह रहे हैं कि 'सुत और वित्त (धन), नारी, भवन और परिवार—सब मुझे फिरसे प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु अब सगा भाई दूसरा नहीं प्राप्त हो सकता। क्योंकि पिताका

स्वर्गवास हो गया है और दूसरा भाई तो माता-पिता दोनोंके जीवनमें ही पैदा हो सकता है।' यहाँ पिताके ऊपर प्रधान लक्ष्य होनेके कारण एक पितासे सहोदरता अर्थात् सगा भाई होना सिद्ध ही है, माता-पिता दोनोंके उदरके सम्बन्धमें पिताकी ही एकता सगेपनमें पर्याप्त है। फिर भी यदि अधिक गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि श्रीराम आदि चारों भाई माता-पिताके रज-वीर्यसे तो उत्पन्न थे नहीं; गर्भाधानके लिये अग्निदेवके दिये हुए चरुसे ही जब चारों भाई उत्पन्न हुए थे तो उनकी सहोदरताके विषयमें शङ्का कैसे हो सकती है? सहोदर भ्राताके गुणोंका प्रमाण देकर भी लोग अर्थ सिद्ध करते हैं, इस दृष्टिसे भी श्रीलखनलालजी योग्यतम थे; अतः सर्वतोभावेन इनका सहोदर होना सत्य और सङ्गत है।

निज[२] जननी[३] के[९] एक[६] कुँमारा। तात[१] तासु[४] तुम्ह[५] प्रान[८] अधारा[१०]॥

—उपर्युक्त अर्द्धालीका अन्वय ठीक समझनेके लिये ही अन्वयाङ्क लगा दिये गये हैं, उन्हें देखकर भावार्थ ठीक समझमें आ जायगा। अर्थात् 'भाई! मेरी जो माता है, उसके तुम एक कुमार प्राणके आधार हो।'

सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी।
सब बिधि सुखद परम हित जानी॥

अर्थात् उस माताने मुझको सब प्रकार सुखदाता और परम हितू जानकर तुम्हारा हाथ पकड़कर सौंप दिया है।

उतरु काह दैहउँ तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥

अर्थात् उस माताको मैं जाकर क्या उत्तर दूँगा; भाई ! उठकर मुझे क्यों नहीं सिखाते ?

'निज' शब्द सदैव अपनेका ही बोधक हुआ करता है; यहाँ जब वक्ता श्रीरामचन्द्रजी हैं तो वह अपनेको ही 'निज' कह रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं । प्रमाण—'निज सिद्धांत सुनावउँ तोही ।' 'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत ।' इसलिये निज जननीसे कौसल्याजीका लक्ष्य हुआ, वे सुमित्राजीके दोनों कुमारोंमेंसे एक लखनलालको अपना प्राणाधार ही मानती थीं; क्योंकि—

बारेहिं ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी ॥

तथा—

भरत सत्रुहन दोनउ भाई । प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई ॥

अतएव श्रीरामजीके साथ लखनलालकी विशेष प्रीति देखकर तथा नित्य अपने ही महलमें दोनोंको खेलते देखकर कौसल्याजीकी उनपर अधिक प्रीति बढ़ गयी थी, इसीसे श्रीलखनलाल उनके प्राण-आधार हो गये थे । 'एक' शब्दका अभिप्राय है कि दोनों भाइयोंमें तुम एक—दो पदार्थोंके रहते निश्चयार्थक 'एक' शब्द लगाना ही पड़ता है ।

'सौंपना' शब्दका प्रयोग भी श्रीकौसल्याजीद्वारा ही युक्तिसङ्गत हो सकता है; क्योंकि यदि सुमित्राजी अपने बेटेको इस प्रकार सौंपकर उसका श्रीरामजीपर भार देतीं तो इससे प्रेमके बदले स्वार्थ ही सूचित होता । उसका भाव होता कि 'मेरा लड़का आपके साथ वन जाता है; जो कुछ बाधा आवेगी, उसके आप जिम्मेवार हैं ।'

ऐसा होनेसे सारा महत्त्व ही चला जाता है; किन्तु श्रीरामसे जब यही बात कौसल्याजी कहती हैं तो इसकी महत्ता बढ़ जाती है। पुनः कौसल्याजीके भवनमें तो श्रीरघुनाथजी एवं लखनलालजीका एकत्र होना पाया भी जाता है, पर सुमित्राजीके भवनमें तो अकेले श्रीलखनलालके ही आज्ञा माँगनेके लिये जानेका उल्लेख मिलता है-

मागहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

जब सुमित्राजीके भवनमें रघुनाथजी गये ही नहीं, तो फिर सौंपना कैसे होता? श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणसे तो सिद्ध है कि श्रीकौसल्याजीने ही लखनलालजीको श्रीरामके हाथों सौंपा था—

अभिवाद्य च कौसल्यां रामेऽपि प्रस्थिते वने।
सौमित्रिं निजहस्तेन राघवस्यापि स्वार्पयत्॥

अब रही यह बात कि वनगमनके समय तो श्रीमानसमें किसीके भी सौंपनेका उल्लेख नहीं किया गया है। इसका उत्तर यह है कि ग्रन्थकारको ग्रन्थके सम्पूर्ण विषयका ज्ञान होता है। बहुत विषयोंकी पुनरावृत्ति (दो बार आने) के दोष, तथा अन्य गूढ़ मर्मोंके कारण आगे जाकर ही उसका उद्‌घाटन करना अच्छा समझकर पीछे सूचित किया जाता है। जैसे—

रामानुज लघु रेख खचाई। सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई॥

इस सीता-हरणके समयके प्रसङ्गको वहाँ न देकर इसे मन्दोदरीके द्वारा सूचित करा दिया है। तथा रावण और बाणासुरके आगमनका उल्लेख जनकपुरमें राजसभाके अवसरपर न करके श्रीसुनयनाजीके द्वारा सूचित करा दिया है कि—'रावन बान छुआ नहिं चापा।' इसी प्रकार शृङ्गवेरपुरमें लौटते समय श्रीसुमन्तके

प्रति जो कथन श्रीरघुनाथजीका हुआ था, उसका वहाँ उल्लेख न कर श्रीअयोध्या लौटनेपर उसे श्रीसुमन्तके मुँहसे कहलाया गया है। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी श्रीकौसल्याजीका ही सौंपना सत्य मानना चाहिये, तथा उपर्युक्त प्रमाणसे कौसल्याजीका सौंपना सिद्ध भी हो जाता है।

इन चौपाइयोंके और भी अर्थ किये जाते हैं। कुछ सज्जन 'एक कुमारा' में 'एक'का अर्थ 'प्रधान' लेकर सुमित्राजीका ही सौंपना सिद्ध करते हैं, जो युक्तिसङ्गत नहीं जान पड़ता; तथा शब्दोंको तोड़-कर 'निज जन' अर्थात् अपने दास, और 'नीके' अर्थात् सुन्दर—इस प्रकार अर्थ करते हैं। उसमें 'सौंपेसि' का अर्थ-सम्बन्ध नहीं मिलनेसे वह असङ्गत हो जाता है। अन्य टीकाकारोंने जो 'निज जननी के एक कुमारा' श्रीरामचन्द्रजीको मानकर उनके प्राणके आधार लखनलालको लिखा है, वहाँ भी सौंपनेका सम्बन्ध छूट जाता है। इस प्रकार अन्य अर्थोंमें अनेकों त्रुटियाँ आ जाती हैं, परन्तु हमारे उपर्युक्त अर्थमें कोई त्रुटि न होकर वाल्मीकीय रामायणसे भी सङ्गति मिल जाती है। एवं मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीको अपने सम्भावित विरदकी चिन्ता भी धर्मतः युक्त ही है, जो यहाँ स्पष्ट लक्षित होती है। अतः श्रीरामचन्द्रजीके वचन सत्य और धर्म-मूलक ही हैं, अनर्गल नहीं। किसी-किसी प्रतिमें 'प्रभु-विलाप' के स्थानमें 'प्रभु-प्रलाप' पाठ है, जिसके कारण टीकाकार लोग 'प्रलापोऽनर्थकं वचः' के प्रवाहमें झूठमूठ बह जाते हैं। पर स्मरण रहे, श्रीरामके वचन कभी अनर्थक हो ही नहीं सकते।

२९—क्या सचमुच प्रभु श्रीरामचन्द्रजी अपने सेवकका दोष नहीं देखते ? फिर न्यायी कैसे ?

शङ्का—श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डके आरम्भमें श्रीभरतजीने कहा है—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

अर्थात् 'प्रभु श्रीरामचन्द्रजी सेवकका अवगुण कभी नहीं मानते। वे दीनबन्धु और अत्यन्त मृदुल स्वभावके हैं।' इस कथनसे क्या सिद्ध होता है ? परमेश्वर श्रीरामचन्द्रजी न्यायी हैं अथवा अन्यायी ? यदि न्यायी हैं तो कैसे ?

समाधान—परमेश्वर श्रीरामचन्द्रजीमें अन्याय कहाँ ? वे दीन-बन्धु, अत्यन्त कोमल स्वभाववाले और करुणाके धाम होते हुए भी परम न्यायाधीश हैं। सबसे पहले 'जन' शब्दको समझ लेना चाहिये। अरण्यकाण्डमें महर्षि नारदजीके प्रति ये श्रीमुखके वाक्य हैं—

गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥

यहाँ 'जन' शब्दका स्पष्टीकरण 'बालक सुत' अर्थात् दूध पीनेवाले बच्चेकी उपमा देकर किया गया है और सरकार श्रीराम-चन्द्रजी अपनेको स्वयं माताके स्थानमें बतला रहे हैं—'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥' ऐसी स्थितिमें विचारनेकी बात है कि स्तन पीनेवाला बालक जब माताकी गोदसे उतरकर खेलते-खेलते साँप या अग्निको खिलौना समझता हुआ अज्ञानतावश उसे पकड़ने दौड़ता है, तब माता अपने उस बालकको दोषी मानकर उसका न्याय करने बैठती है अथवा दौड़कर उसकी रक्षा करनेमें अपना दोष मानती है ? हाँ, जब वही नादान बच्चा सयाना हो जाता है तब वह माता अपने उस 'प्रौढ़ तनय' पर प्रीति तो वैसे ही करती है, परन्तु 'नहिं पाछिलि बाता'। अर्थात् पहलेके समान उसकी रखवारी करना छोड़ देती है और उसको सुधारनेके लिये उसकी जरा-जरा-सी गलतियोंको भी अवगुण मानकर उसपर कठिन शासन किया करती है तथा उस अवस्थामें ऐसा न

करनेमें ही अन्याय समझती है। ठीक यही बात भगवान् और उनके जनोंके बीच है। कारण यह है कि जो जन सर्वभावसे श्रीभगवान्‌के सच्चे शरणागत एवं प्रपन्न होते हैं, उनके मन-वचन-कर्म—तीनोंपर भगवान्‌का ही साम्राज्य रहता है। वे अपनेको कठपुतलीकी भाँति और अपने प्रभुको पुतली नचानेवाले सूत्रधार—यन्त्रीकी भाँति मानकर तद्गत, तल्लीन और तदधीन रहते हैं। जब उन जनोंके अन्तःकरण विलग रहते ही नहीं, तब अवगुण किसमें माना जाय? जिनका 'अहं' और 'मम' दोनों ही प्रभुके बन रहे हैं (देखिये आलवन्दार-स्तोत्र—'मम नाथ! यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव। नियतस्वमिति प्रबुद्धधीरथवा किं नु समर्पयामि ते ॥'), जो तनु और तनुकी छायाकी भाँति भगवान्‌की प्रेरणासे ही अपना हिलना-डोलना मानते हैं, उन जनोंका अवगुण मानना ही अन्याय कहा जा सकता है। और इसीलिये उपर्युक्त प्रसंगमें सरकार श्रीनारदजीसे स्पष्ट कह देते हैं—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥

अर्थात् जो सर्वोपायशून्य तथा अनन्यगति होकर मेरा भजन करते हैं, उन्हींके साथ 'निज जन' के नाते यह दया और दीन-बन्धुता निबाही जाती है। इसी प्रकार मानसके और-और प्रसङ्गोंमें भी वैसे जनोंके लिये ऐसे वचनोंके कई प्रमाण पाये जाते हैं। यथा किष्किन्धाकाण्डमें श्रीमारुतिजीके प्रति ये वचन कहे गये हैं—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ ॥

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्जीसे कह रहे हैं कि 'मुझ परमात्मा परमेश्वरको सब लोग समदर्शी अर्थात् सारे जगत्को एक दृष्टिसे देखनेवाला कहते हैं, परन्तु इस जगत्में जो जीव अनन्यगति होकर मेरा सेवक बन जाता है, उसीसे मैं प्रियभावका नाता मानता हूँ। क्योंकि उसकी बुद्धिमें सेवक और स्वामी—केवल दो ही रह जाते हैं; वह अपनेको सेवक मानता है और चराचर जगत्को स्वामिरूप मानता है। अतः जब उसकी दृष्टिमें स्वामीके अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं जाता, तब मैं किसके साथ उसकी बराबरी करके उसके लिये समदृष्टि कर सकूँ। इसीलिये उसे प्रिय मानता हूँ।'

पुनः अवधकाण्डमें चित्रकूटके मार्गमें भी इसी प्रकारके वचन कहे गये हैं—

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहि सेवकु परम पिआरा॥
मानत सुखु सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई॥
जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥

ऐसे ही और भी बहुत-से प्रमाण श्रीमानसग्रन्थमें भरे पड़े हैं तथा समस्त श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण और इतिहासादि ग्रन्थोंमें भी ऐसे ही प्रमाण अधिकाधिक मिलते हैं। भला, भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भी कभी अन्यायका सहारा ले सकते हैं ?

सियावर रामचन्द्रकी जय!

३०—क्या सचमुच विभीषणने कल्पभर राज्य किया ?

शङ्का—श्रीरामचरितमानसमें लंकाकाण्डमें ११६ वें दोहेमें विभीषणसे श्रीभगवान्‌ने कहा है—

करेहु कल्प भरि राजु तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं ।
पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं ॥

अर्थात् 'विभीषण ! तुम कल्पभर राज्य करो और मनमें मेरा सुमिरन करते रहो। फिर अन्तमें तुम मेरे उस धामको प्राप्त करोगे, जहाँ संतलोग जाते हैं ।

एक कल्प चार अरब, बत्तीस करोड़ वर्षोंका होता है। (इसका विवरण गीतातत्त्वाङ्क,* पृष्ठ ६३२ में सूर्यसिद्धान्तके अनुसार बतलाया गया है।) एक कल्पमें चौदह मन्वन्तर व्यतीत होते हैं। प्रत्येक मन्वन्तरमें ७१ चतुर्युग बीतते हैं। तथा प्रत्येक मन्वन्तरके अन्तके सत्ययुगमें पृथ्वी जलमग्न हो जाती है। ऐसा सुना जाता है। ऐसी अवस्थामें विभीषण एक कल्पतक कैसे राज्य करेंगे ? तथा एक कल्पतक किसीकी आयु भी कैसे हो सकती है ? यहाँ यदि यह मान भी लें कि भगवान् श्रीरामके आशीर्वादसे इतनी बड़ी आयु प्राप्त हो सकती है, तथापि आगे कई आपत्तियाँ उठती हैं। जैसे—

(१) आजकल वाराह कल्प चल रहा है, जिसके छः मन्वन्तर बीत चुके हैं। सातवाँ वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है, जिसका यह अट्ठाईसवाँ कलियुग है। इसी वर्तमान मन्वन्तरके गत अट्ठाईसवें त्रेतायुगमें भगवान् रामने विभीषणको आशीर्वाद दिया है—ऐसा यदि मान लें तो बड़ी गड़बड़ी होती है; क्योंकि त्रेताके बाद केवल द्वापरयुग बीता है और उसके बाद कलियुगके अभी कुछ ही वर्ष बीते हैं। इसके अतिरिक्त वैवस्वत मन्वन्तरके बीतनेमें ४३ चतुर्युग अभी और बाकी हैं। तदनन्तर इस कल्पके सिर्फ सात मन्वन्तर और बीतनेके लिये रह जायँगे। तत्पश्चात् प्रलयकाल आ जायगा। और प्रलय हो जानेपर विभीषणका राज्य ही कहाँ रहेगा जो वह राज्य करेंगे। फिर भगवान्‌का आशीर्वाद कैसे पूरा होगा ? और भगवान्‌की वाणी कभी व्यर्थ भी नहीं होती। इसका समाधान कैसे किया जाय ?

---

* 'कल्याण' के चौदहवें वर्षका विशेषाङ्क (पता—'कल्याण' कार्यालय, गोरखपुर)

(२) जब भगवान् रामने विभीषणको एक कल्पतक राज्य करनेके लिये वचन दे दिया, तब विभीषणके अबतक जीवित होनेमें तो कोई सन्देह ही नहीं किया जा सकता। परन्तु क्या कारण है कि आज विभीषणका कहीं पता नहीं लगता और लंकामें ब्रिटिश झंडा फहरा रहा है ?

(३) श्रीमानसमें लिखा है कि लंका समुद्रके बीचमें त्रिकूट पर्वतपर स्थित है और वह समुद्रके किनारेसे सौ योजनकी दूरीपर है। परन्तु अंग्रेजोंके जहाज महासागरमें हजारों-हजारों कोसोंका चक्कर लगाते हैं, परन्तु ऐसी किसी लंकापुरीका पता नहीं लगता। फिर विभीषणके अस्तित्वमें विश्वास कैसे किया जाय ?

(४) भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—'संभवामि युगे युगे।' (४।८) अर्थात् प्रत्येक युगमें भगवान् अवतार लेते हैं। यदि लंकामें एक कल्पतक विभीषणका राज्य करना ठीक है तो अगले त्रेतायुगमें जब भगवान् राम अवतार लेंगे तो रावण कहाँ रहेगा? यदि उस समय रावणकी दूसरी लंका होगी, ऐसा मान लें तो श्रीमानसका यह वचन सत्य नहीं ठहरता कि प्रत्येक युगमें रावण जब-जब जन्म लेता है, इसी लंकामें रहता है। इन बातोंका समाधान कैसे किया जाय ?

समाधान—जिस श्रीरामचरितमानसके 'करेहु कल्प भरि राजु तुम्ह' इस प्रवचनको लेकर शङ्का की जा रही है, उसी मानसमें श्रीकाकभुशुण्डिजीके सम्बन्धमें यह प्रमाण है कि—

'महा प्रलयहु नास तव नाहीं।

—तथा उन्हीं भक्तराज श्रीकाकभुशुण्डिजीने स्वयं श्रीगरुड़जीसे

कहा है कि 'इस नील शैलपर वास करते हुए मुझे सत्ताईस कल्प व्यतीत हो चुके हैं।' जैसे—

इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥

अतएव श्रीभगवान्‌की अघटनघटनापटीयसी महिमाको सामने रखकर भगवान्‌ने अपने अनुपम भक्तोंके सम्बन्धमें जो आज्ञा दी है, उसमें कुछ भी असम्भव नहीं मानना चाहिये। एक विभीषणजीके लिये ही क्यों ? सभी अनन्य भक्तोंके लिये 'राम कृपाँ कछु दुर्लभ नाहीं' यही निश्चय रखना उचित है। क्योंकि यह सिद्धान्त है कि—

उतपति थिति लय बिषहु अमी के। राम रजाइ सीस सबही के॥

अतएव श्रीभगवान्‌की आज्ञासे सब कुछ सम्भव हो जाता है। प्रश्नकर्त्ता महोदयकी आपत्तियोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार दिया जाता है—(१) ऊपर जो यह कहा गया है कि 'इसी वैवस्वत-मन्वन्तरके अट्ठाईसवें त्रेतायुगमें भगवान् श्रीरामने विभीषणको उपर्युक्त आशीर्वाद दिया था, इसके विषयमें निवेदन यह है कि श्रीरामचरित-मानससे ऐसा प्रमाणित नहीं होता। बल्कि वहाँ तो यह पाया जाता है कि जिस मानसकी कथाको श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवादके रूपमें भाषाबद्ध किया है, उसकी रचना श्रीभुशुण्डि-गरुड़-संवाद होनेके २७ कल्प पहले ही हो गयी थी और श्रीशंकरजीके द्वारा महर्षि लोमशजीके बहानेसे काकजीको वह रामचरितमानस प्राप्त हुआ था, जैसे—

मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाषा॥

सादर मोहि यह कथा सुनाई । पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई ॥
रामचरित सर गुप्त सुहावा । संभु प्रसाद तात मैं पावा ॥
× × × ×
करि बिनती मुनि आयसु पाई । पद सरोज पुनि पुनि सिरु नाई ॥
हरषसहित एहिं आश्रम आयउँ । प्रभु प्रसाद दुर्लभ वर पायउँ ॥
इहाँ वसत मोहि सुनु खग ईसा । बीते कल्प सात अरु बीसा ॥

(रा० मा० उ० कां० दो० ११२-११३)

इस प्रमाणसे तो यह सिद्ध होता है कि विभीषणजीको जिस कल्पमें श्रीमुखसे यह आज्ञा हुई कि 'करेहु कलप भरि राजु तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं' उसके बाद सत्ताईस कल्पसे अधिक व्यतीत हो गये । क्योंकि उसी कथाको तो लोमशसे भुशुण्डिने सुना था तथा भुशुण्डिने नील शैलपर गरुड़जीको सुनाया । अतएव यह शङ्का ही यहाँ नहीं उत्पन्न होती ।

(२) पहले तो ग्रन्थके उपर्युक्त प्रमाणोंसे शङ्काके लिये कोई आधार ही नहीं रह जाता । क्योंकि सत्ताईस कल्पसे अधिक पूर्वकी कथाको हम वर्तमान कल्पके त्रेताकी बात कैसे मान लें ? जब कि जिस ग्रन्थको लेकर शङ्का की जा रही है, वहींका वचन समाधान कर रहा है । तथापि यह सन्देह करना कि विभीषणका कोई पता नहीं लगता, इस कारण भी उचित नहीं है कि हम संसारी जीवोंका ऐसा भाग्य और सामर्थ्य कहाँ, जो ऐसे दिव्य दर्शनोंका लाभ उठाकर कृतकृत्य हो सकें । जबतक भगवान् श्रीरामकी कृपासे दिव्यदृष्टि प्राप्त न हो, तबतक विभीषण आदि महाभागवतोंका दर्शन कहाँ सम्भव है?

(३) अंग्रेजोंके जहाजोंसे लंकाका और विभीषणका पता

नहीं लगा तो इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिये। श्रीद्वारका-पुरी तो इसी द्वापरयुगके अन्तमें समुद्रमें विलीन हुई है और उस द्वारकापुरीका साक्षात्कार श्रीनाभादासकृत भक्तमालके अनुसार श्रीपीपा भक्तको इसी कलियुगमें हुआ है। परन्तु अन्य किसीको उस द्वारकापुरीका दर्शन कहाँ होता है ? लंकाका स्थान भी कौन-सा है, यह निर्णय करनेके लिये कुछ नहीं कहा जा सकता। 'कल्याण' के रामायणाङ्क पृष्ठ ३१७ में 'रावणकी लंका कहाँ थी ?' शीर्षक लेख देखना चाहिये।

(४) गीतामें 'संभवामि युगे युगे' तथा श्रीरामचरितमानसमें (जिस ग्रन्थके विषयमें यह शङ्का उठायी गयी है) 'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं' ऐसा वाक्यरूपमें मिलता है। इन वाक्योंको इस प्रकार समन्वय करके समझना चाहिये कि दोनों आप्तवाक्योंकी सार्थकता सिद्ध हो जाय। यदि हम यह मान लें कि प्रतिकल्पमें एक रामावतार होता है तो इसका युगमें होना सिद्ध ही हो जायगा, क्योंकि युग कल्पके ही अन्तर्गत होता है। और यदि प्रति युगमें रामावतारका होना मान लें तो प्रतिकल्पके अवकाशको संकीर्ण करना पड़ता है। अतएव श्रीभगवान् शिवके ही अनुभव तथा वचनको निश्चय रखना चाहिये कि 'जब जब होइ धरम कै हानी', तभी-तब—

> असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
> जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

सियावर रामचन्द्रकी जय !

३१-भगवान्‌के निजधाम-गमनकी चर्चा रामायणमें क्यों नहीं है?

शङ्का—बालकाण्डके आरम्भमें श्रीपार्वतीजी प्रश्न करती हैं कि श्रीरघुनाथजीने प्रजावर्गके सहित किस प्रकार निजधामको प्रस्थान किया। जैसे—

बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम॥

—इस प्रश्नका उत्तर कहीं नहीं पाया जाता; सो इसका क्या रहस्य है?

समाधान—इसका उत्तर श्रीशिवजीने दिया ही नहीं है, इसीसे इस ग्रन्थमें वह कहीं नहीं मिलता। उत्तर न देनेका कारण यह है कि पीछे श्रीपार्वतीजीने अपने अन्य पाँच प्रश्नोंके सहित इस प्रश्नको भी वापस ले लिया है—इससे सुनना ही नहीं चाहा। तब श्रीशिवजी इसका उत्तर क्यों देते, और जब उत्तर दिया ही नहीं गया तो ग्रन्थमें इसका उल्लेख कहाँसे होता—

श्रीपार्वतीजीने कुल चौदह प्रश्न किये हैं। उन्हें दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भागमें आठ प्रश्न हैं—

१—प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी॥
२—पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा।
३—बालचरित पुनि कहहु उदारा॥
४—कहहु जथा जानकी बिबाहीं।
५—राज तजा सो दूषन काहीं॥
६—बन बसि कीन्हें चरित अपारा।
७—कहहु नाथ जिमि रावन मारा॥

८—राज बैठि कीन्हीं बहु लीला । सकल कहहु संकर सुखसीला ॥

उपर्युक्त प्रथम आठ प्रश्नोंका आरम्भ 'प्रथम' शब्दसे होता है और उनकी समाप्ति राजगद्दीके प्राप्तिविषयक प्रश्नपर होती है । इसके आगे 'बहुरि' शब्दसे दूसरा भाग आरम्भ होता है । उसमें छः प्रश्न हैं, जिनमें श्रीरघुनाथजीके स्वरूपका बोध न होनेके कारण कुतर्कके आभास एवं असम्भावनाकी आशङ्कासे युक्त पहला प्रश्न तो यही है । इसके सिवा पाँच प्रश्न क्रमशः भगवत्तत्त्व, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यके विषयमें हैं । यथा—

१—बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम ।
प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम ॥
२—पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी। जेहिं बिग्यान मगन मुनि ग्यानी ॥
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा । पुनि सब बरनहु सहित बिभागा ॥

इनमें प्रथम भागके आठों प्रश्न तो भगवान् श्रीरामजीकी लीलासे सम्बद्ध हैं । उनके निर्णयसे भगवान्‌के स्वरूपका बोध हो जानेके कारण उन्हें तो श्रीपार्वतीजीने स्थिर (कायम) रक्खा है; किन्तु फिर पीछेके प्रश्नोंके उत्तरकी कोई आवश्यकता न रहनेके कारण 'बहुरि' शब्दसे आरम्भ होनेवाले दूसरे भागको खारिज कर दिया है । प्रमाणके लिये जब श्रीशङ्करजीने—

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ ॥

—इस बालकाण्डके ११६ वें दोहेसे लेकर ११८ वें दोहेके नीचेकी—

राम सो परमातमा भवानी । तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी ॥

—इस चौपाईतकके उपदेशद्वारा, जिसमें पाँच वार 'सोई' शब्द आया है, पार्वतीजीको श्रीरघुनाथजीके स्वरूपका बोध करा दिया तब श्रीपार्वतीजीकी सारी कुतर्ककी रचना नष्ट हो गयी और उन्हें जो श्रीरघुनाथजीका प्रजावर्गके सहित निजधामको जाना असम्भव-सा जान पड़ता था, वह सारी दारुण असम्भावना नष्ट हो गयी और श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम और विश्वास उत्पन्न हो गया। यथा—

सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना॥
भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥

तब वे श्रीमहादेवजीके चरणकमलोंको स्पर्श कर हाथ जोड़कर कहने लगीं—

ससि कर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥
तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ॥
नाथ कृपाँ अब गयउ बिषादा। सुखी भयउँ प्रभु चरन प्रसादा॥
अब मोहि आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी॥
प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू। जौं मो पर प्रसन्न प्रभु अहहू॥

अर्थात् "कृपालु स्वामिन्! जिनसे आपने श्रीरघुनाथजीके स्वरूपका बोध कराया है, आपके उन चन्द्रकिरण-सरीखे वचनोंको सुनकर शरत्कालके घामके समान मेरा मोह नष्ट हो गया। आपने कृपा करके मेरे सम्पूर्ण संशयोंको हर लिया है। अब मुझे श्रीरामजीके स्वरूपका बोध हो गया। नाथ! आपकी कृपासे मेरा सारा विषाद जाता रहा। आपके चरणोंके प्रसादसे अब मैं सुखी हो गयी। इसलिये, यद्यपि मैं स्त्रीयोनि और स्वभावसे ही जड एवं अज्ञ हूँ तथापि मुझे अपनी किङ्करी जानकर मैंने पहले जो [श्रीरामचन्द्रजीके

सिंहासनारूढ होनेतकके आठ] प्रश्न किये हैं, अब 'सोई'—केवल उतनोंहीका उत्तर कहिये । [तात्पर्य यह है कि इसके आगे 'बहुरि' शब्दसे आरम्भ होनेवाले छः प्रश्नोंको मैं वापस लेती हूँ । अब उनके उत्तर सुननेकी मुझे आवश्यकता नहीं है । अतः वे खारिज समझे जायँ ।]" यहाँ 'सोइ कहहू' इस उक्तिसे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि केवल 'जो मैं प्रथम पूछा' वही कहिये, और नहीं । इस प्रकार जब प्रश्नकर्त्ताने ही अपने उन प्रश्नोंको निकाल दिया तो वक्ता उनका उत्तर कैसे दे सकता है ? इसीसे उत्तरकाण्डमें जब शिवजीने राज्याभिषेकतकका चरित्र सुना दिया तो वे इक्यावनवें दोहेके पश्चात् श्रीपार्वतीजीसे पूछते हैं 'कि हम आपके सब प्रश्नोंका उत्तर दे चुके; अब यदि कुछ और पूछना हो तो वह भी कहें ।'

उमा कहिउँ सब कथा सुहाई । जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई ॥
कछुक राम गुन कहेउँ बखानी । अब का कहौं सो कहहु भवानी ॥

इसपर गोसाईंजी कहते हैं—

सुनि सुभ कथा उमा हरषानी । बोली अति बिनीत मृदु बानी ॥
धन्य धन्य मैं धन्य पुरारी । सुनेउँ राम गुन भव भय हारी ॥

इस प्रकार अपनी कृतार्थता व्यक्त करते हुए फिर श्रीपार्वतीजीने 'बायस तनु रघुपति भगति मोहि परम संदेह' इत्यादि वाक्यसे नया प्रश्न श्रीकाकभुशुण्डजीके विषयमें किया है । इससे सिद्ध होता है कि अब उन्हें पीछेके प्रश्नोंका उत्तर सुननेकी इच्छा ही नहीं थी ।

किन्हीं-किन्हीं महाशयोंने इस शङ्काका इस प्रकार समाधान किया है और इसे किसी-किसी टीकाकारने भी अपनी टीकामें लिखा

है कि श्रीरामचन्द्रजीका निजधामगमन श्रीगोसाईंजीने गुप्तरूपसे उत्तर-काण्डकी इस चौपाईद्वारा सूचित किया है—

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अवँराई॥

यहाँ 'अवँराई' शब्दसे वे अमरपुरको निजधामरूपसे ग्रहण करते हैं। किन्तु शीतल अमराई तो श्रीअयोध्याजीमें ही एक वाटिका थी और उसमें जाते समय सारी प्रजाके साथ रहनेका भी कोई प्रमाण नहीं है। उस समय तो 'संग लिए भरतादिक भ्राता' इस वाक्यसे केवल भरतादि भाई और हनूमान्‌जी ही साथ बताये गये हैं— अमराई पहुँचनेपर जो कुछ हुआ है, उसका वर्णन भी इस प्रकार है—

भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥
मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥
तेहिं अवसर मुनि नारद आए करतल बीन।
गावन लागे राम कल कीरति सदा नबीन॥

अतः 'कीन्ह जो अचरज राम। प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम' इस प्रश्नका उत्तर इस चौपाईसे किसी प्रकार सुसंगत नहीं होता।

किन्हीं महानुभावका कथन है कि श्रीशङ्करजी उपासक हैं। उन्हें भगवान्‌का अयोध्यासे निजधामगमन अभीष्ट नहीं है, इसलिये वे इस प्रश्नका उत्तर छिपा गये हैं। किन्तु यदि ऐसी बात होती तो वे यह कैसे कहते कि 'उमा कहिउँ सब कथा सुहाई।............ अब का कहौं सो कहहु भवानी।' और ऐसा कहनेपर पार्वतीजी भी अपने प्रश्नोंका उत्तर पूरा कराये विना क्यों छोड़तीं? इसलिये यह समाधान भी उचित नहीं जान पड़ता।

इन दोनों समाधानोंमें सबसे बड़ी त्रुटि यह रहती है कि यदि किसी प्रकार खींचतान करके इस एक प्रश्नके उत्तरकी संगति बैठा भी ली जाय तो इसके आगेके शेष पाँच प्रश्नोंका उत्तर कहाँसे और किस चौपाईसे निकाला जायगा । और जबतक सभी प्रश्नोंका समाधान न हो जाय, तबतक वक्ता यह कह नहीं सकता कि 'मैंने तुम्हारे सब प्रश्नोंका वर्णन कर दिया । अब यदि कुछ और पूछना हो तो वह भी कहूँ ।' अतः यदि 'बहुरि' शब्दसे आरम्भ होनेवाले भागके छहों प्रश्न परित्यक्त न समझे जायँगे तो किसी भी प्रकार इस शङ्काका समाधान नहीं हो सकेगा । इसलिये यही समझना चाहिये कि भगवान्‌के स्वरूपका बोध हो जानेपर जब पार्वतीजी स्पष्ट यह कह रही हैं कि 'प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू' तो वे पीछेके छः प्रश्नोंका उत्तर अब नहीं कहलाना चाहतीं और न अब उन्हें उनके विषयमें सुननेकी इच्छा ही है । उनके इन कुतर्कोंका निराकरण तो भगवान्‌के इस स्वरूपबोधसे ही हो गया कि 'राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी । सर्ब रहित सब उर पुर बासी ॥' अब ऐसे प्रभुके आने-जानेके विषयमें प्रश्न ही कहाँ हो सकता है ? बस, केवल श्रीरघुनाथजीका विशद यश सुननेकी श्रद्धाने इस एकके साथ उनके शेष पाँच प्रश्नोंको भी भुला दिया । अतः यही सिद्ध होता है कि पीछे पार्वतीजीने ही इस प्रश्नको वापस ले लिया, इसीसे ग्रन्थमें इसका उत्तर नहीं है ।

बोलो सियावर रामचन्द्रकी जय !

३२—विश्वकी कर्म-प्रधानता और मुक्तिका रहस्य

प्रश्न—श्रीरामचरितमानसके विभिन्न स्थलोंमें ये चौपाइयाँ मिलती हैं—

आकर चारि जीव जग अहहीं । कासीं मरत परम पद लहहीं ॥

× × × ×

जा मज्जन तें बिनहिं प्रयासा । मम समीप नर पावहिं बासा ॥

× × × ×

जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं । ते तनु तजि सुरलोक सिधरिहहिं ॥

इन चौपाइयोंसे यह स्पष्ट है कि काशीमें मरने, सरयूमें स्नान करने और रामेश्वरका दर्शन करनेसे सब प्रकारके मनुष्योंको चाहे वे कुकर्मी भी क्यों न हों, मुक्ति मिल जाती है। तब उसी रामायणमें—

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

—इस चौपाईद्वारा कर्मकी प्रधानता क्यों बतलायी गयी है ? इससे तो यही सिद्ध होता है कि सब लोग अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही फल प्राप्त करते हैं; फिर ऊपरके वचनोंसे इस वचनका क्या मेल है ? यदि हम ऊपरके ही वचनोंको ठीक मानें, तब भी यह शङ्का उत्पन्न होती है कि जबसे काशी, सरयू नदी तथा रामेश्वरका अस्तित्व है तबसे न जाने कितने असंख्य नर-नारी उनके द्वारा आवागमनसे छुटकारा पा गये होंगे; फिर भी भारतवर्षकी जनसंख्यामें कमी नहीं आयी, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—प्रश्नकर्ताकी पहली शङ्का कि काशीमें मरने, सरयूजीमें स्नान करने और रामेश्वरका दर्शन करनेसे यदि सब लोग परमपद प्राप्त कर लेते हैं, तब कर्म-फल-भोगका प्राधान्य क्यों बतलाया गया है—इसका समाधान उसी प्रसङ्गमें है, जिसमें कर्मानुसार फल-भोग करनेकी बात बतायी गयी है। पूरा प्रसङ्ग इस प्रकार है—

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥

अगुन अलेप अमान एकरस । रामु सगुन भए भगत पेम बस ॥

(अयो० २१८ । २, ३)

इस प्रसङ्गको पढ़नेसे यह प्रकट हो जाता है कि भगवान्को स्वतः न किसीसे राग है, न रोष है । उन्होंने इस जगत्में सामान्यतः कर्मको ही प्रधान बना रक्खा है; अतएव जो जैसा कर्म करता है, वह वैसा ही फल भोगता है । परन्तु फिर भी जो लोग कर्तृत्वाभिमान त्यागकर भगवान्की शरण ग्रहण कर लेते हैं, जो अपनेको भगवान्के चतुर्विध विग्रह—नाम, रूप, लीला, धामकी सेवा तथा उनके आज्ञापालनादिमें लगा देते हैं, उन भक्तोंके लोक-परलोककी रक्षाका भार भगवान् स्वयं अपने हाथोंमें ले लेते हैं । गीतामें यह बात स्पष्टरूपसे कही गयी है—'योगक्षेमं वहाम्यहम् ।' (९ । २२) इसलिये भगवद्भक्तोंकी बात न्यारी है, वे इस जगत्के नियमोंमें नहीं बँध सकते । 'जो जस करइ सो तस फलु चाखा' यह नियम उन लोगोंके लिये है, जिनको अपने कर्मोंका अभिमान है; और ऐसे लोगोंसे सारा संसार भरा पड़ा है, इसलिये 'करम प्रधान बिस्व करि राखा' की बात सर्वथा ठीक है । अस्तु,

काशीमें मरण, सरयूजी (अयोध्या) में स्नान और रामेश्वरका दर्शन उन्हीं भाग्यवान् जनोंको प्राप्त होता है; जो कर्तृत्वाभिमान छोड़कर प्रभुके दास बन जाते हैं; फलतः उनकी मुक्ति हो जाती है । रही बात कुकर्मियोंके मुक्त होनेकी; सो यही तो भगवान्के नाम, रूप, लीला, धामका विरद और ऐश्वर्य है । इसीलिये—

'अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा ।'

'काश्यां हि मरणान्मुक्तिः ।'

—इत्यादि वचन कहे गये हैं। यदि काशी, अयोध्या, रामेश्वर, सरयू, गङ्गा आदिके द्वारा केवल निष्पाप ही मुक्त होते तो फिर उनकी महिमा ही क्या रह जाती ?

इसी प्रसङ्गमें प्रश्नकर्त्ताकी दूसरी शङ्का यह है कि यदि काशी, सरयू, रामेश्वर आदिके द्वारा सब प्रकारके लोग मुक्त होते रहते तो भारतवर्षकी जनसंख्या बहुत कम हो गयी होती या समाप्त हो गयी होती। इसका समाधान यह है कि जीव-तत्त्व अप्रमेय और असंख्य है उसका हिसाब नहीं लगाया जा सकता। जीवोंकी बात तो अलग है; अनन्त-अनंन्त जीवोंका एक-एक ब्रह्माण्ड होता है, उन ब्रह्माण्डोंकी भी गणना नहीं की जा सकती। श्रुतियोंका कहना है कि यदि कोई चाहे तो रज-कणोंकी गणना भले ही कर सके, परन्तु अनन्त ब्रह्माण्डोंकी गणना नहीं हो सकती। यथा—

'रजसामपि संख्या चेद् विश्वानां न कदाचन।'

ऐसी स्थितिमें अनन्त ब्रह्माण्डगत अनन्त जीवोंका हिसाब-किताब कैसे लगाया जा सकता है ? और जब हिसाब नहीं लगाया जा सकता, तब उनके अभाव अथवा वृद्धिके सम्बन्धमें कैसे कोई बात कही जा सकती है ? इसके अलावा यह भी तो कोई नियम नहीं है कि भारतवर्षके जीव भारतवर्षमें ही जन्म ग्रहण करें। न जाने कितने अनन्त जीव कहाँ-कहाँ उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। इसलिये प्रश्नकर्त्ताकी दूसरी शङ्का जीवोंकी अपरिमितताकी दृष्टिसे अनावश्यक है।

३३-क्या प्रारब्धका भोग अटल जानकर कर्तव्यकर्म न करें ?

प्रश्न—बालकाण्डमें शङ्करजीने सती-मोहके प्रसङ्गमें यह कहा है—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा । को करि तर्क बढ़ावै साखा ॥

फिर किष्किन्धाकाण्डमें शङ्करजी और काकभुशुण्डिजीके ये वचन मिलते हैं—

'उमा दारु जोषित की नाईं । सबहि नचावत रामु गोसाईं ॥'
'नट मरकट इव सबहि नचावत । रामु खगेस बेद अस गावत ॥'

इन सब वचनोंको देख-सुनकर भी लोग पाप-पुण्यके पचड़ेमें क्यों पड़ते हैं ? क्यों नहीं निश्चिन्त होकर बैठ रहते ? परन्तु उपर्युक्त वचनोंके आधारपर निश्चिन्त होकर बैठ रहना भी कैसे ठीक है, जब कि लक्ष्मणजी 'नाथ दैव कर कवन भरोसा' तथा 'दैव दैव

आलसी पुकारा' कहकर उपर्युक्त वचनोंका खण्डन कर देते हैं? कृपया इन सब बातोंका स्पष्टीकरण कीजिये।

उत्तर—श्रीशिवजीका यह विचार कि—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

—उस समयका है, जब उन्होंने सतीजीको समझाते-बुझाते समय यह जान लिया कि 'इनके ऊपर हरिमायाका प्रभाव पड़ रहा है, इसलिये अब इनके द्वारा उसीके अनुसार कार्य होगा। इनकी भावीको मेटना हमारे मानका नहीं है, क्योंकि उसमें हरि-इच्छा सम्मिलित होनेके कारण वह बलवान् हो रही है।'

हृदयँ बिचारत संभु सुजाना। हरि इच्छा भावी बलवाना॥

यथा—

लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिवँ बार बहु।
बोले बिहसि महेसु हरि माया बलु जानि जियँ॥

अस्तु, हरिमायाकी प्रबलता देखकर और यह विचारकर कि—

मोरेहु कहें न संसय जाहीं। विधि बिपरीत भलाई नाहीं॥

—जब शङ्करजी अधिक चिन्तित होने लगे, तब उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि 'जाने दो, भगवान् श्रीरामने जो रच रक्खा है, वही होगा। क्योंकि उन्हींकी मायाकी प्रेरणासे सतीद्वारा यह लीला हो रही है, इसलिये इसमें कौन कुतर्क करने और शाखा-प्रशाखा निकालने जाय।' ऐसा निश्चय करके श्रीशङ्करजी श्रीराम-नामका जप करने लगे—

अस कहि लगे जपन हरिनामा। गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा॥

तात्पर्य यह कि शङ्करजीका—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

—यह वचन जीवमात्रके लिये नहीं है, बल्कि केवल सतीके सम्बन्धमें है। इसके अतिरिक्त यह वचन उस स्थितिमें उनके मुँहसे निकला है जब उन्हें यह अनुभव हो चुका है कि भगवान् श्री-रामचन्द्रजीने सतीके साथ जो लीला रच रक्खी है, उसका कोई खास उद्देश्य है और वह होकर ही रहेगी। इसलिये श्रीशङ्करजीके इस वचनको जीवमात्रपर घटाना ठीक नहीं। वैसे तो और भी भगवद्भक्त, जो निश्चितरूपसे प्रारब्धपर निर्भर रहते हैं, ऐसा कह सकते हैं और उनका ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा; क्योंकि प्रारब्धका भोग अटल एवं अवश्यम्भावी होता है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि प्रारब्धपर निर्भर रहकर और कुछ किया ही न जाय। जो भगवद्भक्त प्रारब्धपर निर्भर रहते हैं, वे भी कर्तव्यकर्म (भजन-ध्यानादि परमार्थसाधन) तो करते ही रहते हैं। अतः प्रारब्धपर निर्भर रहनेवालोंको भी अपना कर्तव्यकर्म करते रहना चाहिये। जितने भी पुण्यकर्म हैं—जैसे यज्ञ, दान, तप इत्यादि, सभी कर्तव्यकर्म हैं और इनको कर्तव्यबुद्धिसे करते रहना ही उचित है। तथा इनको करते हुए प्रारब्धभोगोंको, जो भगवान् श्रीरामजीकी आज्ञासे पूर्वकर्मानुसार रचे जा चुके हैं तथा अटल और अवश्यम्भावी हैं, अनासक्तभावसे भोगना चाहिये। अस्तु,

इस प्रकार विचार करनेसे श्रीशङ्करजीके 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा' तथा श्रीलक्ष्मणजीके 'दैव दैव आलसी पुकारा' इन वचनोंमें कोई पारस्परिक विरोध नहीं प्रतीत होता। एकका वचन

प्रारब्धकर्मके सम्बन्धमें है और दूसरेका क्रियमाण कर्मके सम्बन्धमें। श्रीलखनलालजीने समुद्रपार होनारूप कर्तव्यकर्मके उपस्थित होते ही अपने उपर्युक्त दोनों वचनोंका प्रयोग किया है।

रहे किष्किन्धाकाण्डमें तथा उत्तरकाण्डमें आये हुए श्रीशङ्करजी तथा काकभुशुण्डिजीके उपर्युक्त वचन, सो उनका रहस्य बड़ा गम्भीर है। यहाँ उनका उल्लेख हो जानेके कारण उनके सम्बन्धमें इतना ही संक्षिप्त निवेदन कर दिया जाता है कि—

नट मरकट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत॥

× × × ×

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं॥

——ये दोनों चौपाइयाँ अपने-अपने प्रसङ्गमें ईश्वरके उस स्वरूपके प्रमाणमें आयी हैं, जो अरण्यकाण्डमें श्रीलक्ष्मणजीके प्रश्न करनेपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीद्वारा कथित हुआ है। वहाँ भगवान्ने अपने श्रीमुखसे ब्रह्मका निरूपण इस प्रकार किया है। यथा——

माया ईस न आपु कहँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥

अर्थात् ईश्वर, जीव और माया——इन तीनों तत्त्वोंमें ईश्वर इसीलिये सर्वपर हैं कि वे जीवको बन्धन-मोक्षके दाता तथा मायाके भी प्रेरक हैं। अस्तु, यहींपर उल्लिखित 'बंध मोच्छ प्रद' की पुष्टि 'नट मरकट इव सबहि नचावत' से तथा 'माया प्रेरक' की पुष्टि 'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं॥' द्वारा की गयी है।

सियावर रामचन्द्रकी जय !

३४–निराकार और सर्वव्यापी ईश्वरके लिये "बिनु पद चलइ" आदि कैसे कहा ?

प्रश्न—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥

इस चौपाईको पढ़नेपर यह शङ्का उठती है कि जब भगवान् बिना पैरके चल सकते हैं, बिना कानके सुन सकते हैं, बिना हाथके काम-काज कर सकते हैं, तब उन्हें अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता होती है। वे तो निराकाररूपसे ही सब कुछ कर

सकते हैं। और भगवान्‌के निराकार एवं सर्वव्यापी होनेकी स्थितिमें 'बिनु पद चलइ' आदि कहना भी कहाँतक ठीक है ?

उत्तर—भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यको न जाननेके कारण ही इस प्रकारकी शङ्काएँ उठा करती हैं। यदि हम भगवान्‌के सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापी होनेपर ही विश्वास कर लें तो इस शङ्काका समाधान अपने-आप हो जाता है; क्योंकि जो सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान् है, वह सब जगह सब कुछ कर सकता है।

जिस प्रसङ्गमें उपर्युक्त चौपाई आयी है, वहाँ श्रीमानस-ग्रन्थकारने वेद-वचनोंका ही अक्षरशः अनुवाद किया है और अन्तमें यह दोहा दे दिया है—

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥

इसका अर्थ यह है कि "वेद 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' (श्वेता० ३।१९) इत्यादि कहकर जिनका गायन करते हैं, जिन्हें बुधलोग भी ऐसा ही निरूपण करते हैं तथा मुनिगण जिनका ध्यान करते हैं, वे ही भगवान् श्रीरामचन्द्र अपने भक्तोंके हितार्थ कोसलपति एवं दशरथसुतके रूपमें प्रकट हैं।" अस्तु, उपर्युक्त शङ्का केवल श्रीमानससे ही नहीं, वेदोंसे भी सम्बन्ध रखती है, जो अनादि एवं अपौरुषेय हैं तथा जिनके सम्बन्धमें हमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं करनी चाहिये।

इस 'दीन' के तुच्छ विचारसे 'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना' इत्यादि कहकर यही दिखलाया गया है कि परब्रह्म श्रीभगवान् जीवोंकी भाँति मायिक शरीर और इन्द्रियोंकी अपेक्षा न रखकर

सर्वशक्तिमान् होनेके कारण शरीर और इन्द्रियोंके कार्योंको अपनी शक्तिसे ही सिद्ध कर लेनेमें पूर्ण समर्थ हैं। यहाँ यह बात नहीं कही गयी है कि परमात्माको चलनेकी आवश्यकता पड़ती है, बल्कि उनके इस ऐश्वर्यका कथन किया गया है कि और कोई बिना पैरके नहीं चल सकता, परन्तु भगवान्‌में सामर्थ्य है, वे बिना पैरके भी चलते हैं। यही अघटित-घटना है। इसीलिये आगेकी चौपाईमें कहा गया है—

असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

अब रही यह शङ्का कि "सर्वव्यापीको चलनेकी आवश्यकता नहीं, इसलिये उनके सम्बन्धमें 'बिनु पद चलइ' आदि कहना ठीक नहीं है अथवा सर्वज्ञके सुनने-सुनाने एवं सर्वद्रष्टाके देखने-दिखाने आदि क्रियाओंका वर्णन करना असङ्गत है।" इस शङ्काका समाधान तभी हो सकता है, जब वेदभगवान् अथवा स्वयं श्रीगोस्वामिपाद अपनी कृपाका प्रसार करके इस रहस्यको समझा दें। इस सम्बन्धमें मैं श्रीगोस्वामिपादकृत कवितावलीका एक सवैया उद्धृत करूँगा, जिसमें भक्तजनोंके हितार्थ बहुत सुन्दर सिद्धान्त निचोड़कर रख दिया गया है—

अंतरजामिहु ते बड़े बाहेरजामी हैं राम, जो नाम लिए ते।
धावत धेनु पेन्हाइ लवाईं ज्यों बालक बोलनि कान किए ते॥
आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिए ते।
पैज परें प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन ते, न हिए ते॥

(कवितावली, उत्तरकाण्ड)

इसका तात्पर्य यह है कि भक्तलोग अपने सगुण सरकारको ही निर्गुण अर्थात् मायाके गुणोंसे अतीत, निराकार अर्थात् मायिक (पाञ्चभौतिक) शरीरसे परे, दिव्यविग्रह, दिव्यवपु, वेदसिद्धान्त आदि मानते हैं। उन्हीं प्रभुको सर्वव्यापक मानकर उनके सम्बन्धमें श्रीगोस्वामिपाद यह कह रहे हैं कि 'अन्तर्यामी भगवान्से हमारे बहिर्यामी प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ही बड़े हैं; क्योंकि जब कोई प्रेमपूर्वक उनका नाम पुकारता है, तब वे उसे सुनकर इस प्रकार दौड़ते हैं जैसे तत्काल ब्यायी हुई गौ अपने बछड़ेकी बोली सुनकर वात्सल्यभाव-से उसकी ओर दौड़ती है। श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं कि मैं अपनी समझकी बावली बात कह रहा हूँ, यह बात दूसरेसे कहनेयोग्य नहीं है। बात यह है कि यद्यपि श्रीप्रह्लादजी सर्वव्यापी भगवान्के सच्चे, विश्वासी और एकनिष्ठ भक्त थे, परन्तु जब पैज पड़ गयी तब उनकी बात रखने तथा उनकी रक्षा करनेके लिये उनके हृदयके अन्तरसे अन्तर्यामी भगवान् नहीं निकले, बल्कि भक्तभयहारी भगवान् बाहरसे अर्थात् पत्थरके खंभसे ही प्रकट हुए।'

कितनी सुन्दर उक्ति है ! इस प्रकार भगवत्-भागवत-रहस्योंपर विचार करनेपर निराकार एवं सर्वव्यापी प्रभुका सुनना, बोलना, चलना ही नहीं दौड़ना तथा भक्तरक्षार्थ कर्म (युद्धादि) करना भी सिद्ध होता है। इसमें शङ्का करनेकी कोई बात नहीं।

सियावर रामचन्द्रकी जय !
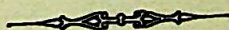
३५—भावी प्रबल है तो शुभ मुहूर्तसे कार्य क्यों किया जाय ?

प्रश्न—वशिष्ठजीने श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकके लिये सर्वोत्तम मुहूर्त शोधकर बतलाया था; परन्तु होनहार ऐसा प्रबल है कि श्रीरामजीको चौदह वर्षोंका वनवास हो गया। ऐसी दशामें शुभ मुहूर्तका क्या महत्त्व है और मङ्गल-कार्योंको शुभ मुहूर्तमें करनेसे क्या लाभ है ?

उत्तर—इस शङ्काके उठाते समय कुछ विचार कर लेना चाहिये। श्रीवशिष्ठजीने पहले ही इसका स्पष्टीकरण कर दिया है—

'सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।'

प्रबल भावी उस भावीको कहते हैं, जिसमें भगवान्‌की इच्छा भी शामिल हो जाती है। वह फिर किसीके टाले नहीं टलती, नहीं तो श्रीवशिष्ठजी तो ब्रह्माकी लिखी भावीको भी मेटनेका सामर्थ्य रखते थे। प्रमाण देखिये—

'सो गोसाँइ जेहि बिधि गति छेकी। सकै को टारि टेक जो टेकी॥'

शिवजीमें भी ऐसा ही सामर्थ्य था—'भाविहु मेटि सकहिं

त्रिपुरारी ।' परन्तु जब उन्हें भी सतीजीके सम्बन्धमें यह ज्ञात हो गया कि 'यह भावी हमारे मानकी नहीं है, अर्थात् यह केवल ब्रह्माकी बनायी भावी नहीं है, इसमें भगवान्‌की इच्छा भी सम्मिलित हो गयी है तथा उसने इसे बलवान् भावी बना दिया है—

'हृदयँ बिचारत संभु सुजाना । हरि इच्छा भावी बलवाना ॥'

—तब उन्होंने भी उसमें कोई दखल नहीं दिया और सतीको श्रीरघुनाथजीके पास ही भेज दिया तथा यही निश्चय करके भजन करने लगे कि श्रीरामजीने जो विचार रक्खा है, वह अटल है, एवं वही होगा । यथा—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा । को करि तर्क बढ़ावै साखा ॥
अस कहि लगे जपन हरिनामा । गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा ॥

अस्तु, इससे यह न समझना चाहिये कि किसी मङ्गलकार्यके लिये शुभ मुहूर्तकी कोई आवश्यकता नहीं है या उसका कोई महत्त्व नहीं है । हाँ, जिस भावीमें ईश्वरेच्छा प्रवेश कर जाती है, उसमें किसी दूसरेकी दाल नहीं गलती । यों विधि-निषेधकी मर्यादा सत्य है, परन्तु ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं । गरलको सुधाके समान और सुधाको विषके समान बनानेका सामर्थ्य परमात्मामें सदा-सर्वदा स्वाभाविक ही निहित है । अतः ऐसे अपवादस्वरूप प्रसङ्गोंका उदाहरण देकर वेद-शास्त्रकी विधियों अर्थात् शुभ मुहूर्तादिके सम्बन्धमें कोई संशय नहीं उत्पन्न होने देना चाहिये और न यही समझना चाहिये कि ऐसे उदाहरण सामान्य शास्त्रीय विधियोंके निषेधक हैं । सब अपने-अपने स्थानपर समयानुसार फल देनेवाले हैं ।

३६—नारीपर नारीका मोहित होना कैसा ?

प्रश्न—रामचरितमानसके बालकाण्डमें धनुषयज्ञके प्रसङ्गमें यह चौपाई आयी है—

रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥

फिर उत्तरकाण्डमें माया और भक्तिका निरूपण करते हुए काकभुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं—

मोह न नारि नारि कें रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥

अतः जब नारी नारीके रूपपर मोहित नहीं हो सकती, तब सीताजीको देखकर नरोंके साथ नारियोंका भी मोहित होना क्यों लिखा गया ?

उत्तर——ऐसा प्रश्न उठानेके पूर्व दोनों उक्तियोंके प्रसङ्गोंपर भलीभाँति विचार कर लेना चाहिये। प्रथम तो जिन श्रीसीताजीको देखकर नारियोंके मोहित होनेकी बात लिखी गयी है, उनका स्वरूप यदि साधारण नारीके रूपके सदृश ही होता, तब यह क्यों कहा जाता——

जौं पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया॥

इतना ही नहीं; उमा, रमा, ब्रह्माणी—इन त्रिदेवियों तथा सुन्दरताकी मूर्ति रतिके रूपोंसे भी श्रीसीताजीके दिव्य रूपकी तुलना नहीं की जा सकी। ऐसी दशामें अलौकिक रूपराशि श्रीसीताजीको देखकर यदि नारियाँ मोहित हो गयीं तो इसमें आश्चर्य-की कोई बात नहीं है।

दूसरी और मुख्य बात यह है कि दोनों प्रसङ्गोंके 'मोह' में प्रकारका भेद है। 'मोह न नारि नारि कें रूपा' में जिस मोहकी बात कही गयी है, वह कामविषयक मोह है। उपर्युक्त कथनका अर्थ यह है कि एक नारीके रूपसे दूसरी नारीके मनमें कामोद्दीपन नहीं हो सकता। इसीसे उस प्रसङ्गमें 'देखि' शब्द नहीं रक्खा गया है, जैसा कि बालकाण्डमें 'देखि रूप मोहे नर नारी' कहा गया है। कारण यह है कि काम तो नेत्रहीन अंधेको भी उत्पन्न होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्तिका स्थान मन है। इसीलिये उसे 'मनोज' भी कहते हैं। बालकाण्डमें श्रीसीताजीके अलौकिक एवं दिव्य रूपको देखकर नर-नारियोंका मोहित होना लिखा गया है; इसलिये 'देखि रूप मोहे नर नारी' का मोह विशुद्ध सौन्दर्यविषयक मोह है। जिस प्रकार अत्यन्त सुन्दर बच्चेको देखकर, चाहे वह

बच्चा पशु-पक्षियोंका ही क्यों न हो, सभी नर-नारियोंका मन मुग्ध हो जाता है, इतना ही नहीं अत्यधिक मनोहर द्रुम-लताओं एवं पत्र-पुष्पोंको भी देखकर लोग उनकी सुन्दरतापर मोहित हो जाते हैं—एकटक उन्हें निहारने लगते हैं, उसी प्रकार श्रीजानकीजीकी अनूप छविको देखकर सब स्त्री-पुरुष विमोहित हो गये थे। यहाँ नर और नारीका कोई सवाल नहीं है; क्योंकि यहाँका मोह उत्तरकाण्डान्तर्गत 'मोह न नारि नारि कें रूपा' के मोहकी भाँति कामसे सम्बन्ध नहीं रखता, जो भोग-योनियोंमें उत्पन्न जोड़ोंमें एक-दूसरेके प्रति उत्पन्न होता है। यहाँ केवल नेत्रविषयक सौन्दर्यका प्रसङ्ग है, जो दिव्य एवं अलौकिक रूपसे किशोरी श्रीजानकीजीमें पूर्ण मात्रामें प्रकट था तथा जिसे देखकर समस्त नर-नारी मोहित हो गये थे। अस्तु, इस प्रकार दोनों प्रसङ्गोंके 'मोह' में भेद समझकर शङ्काका निवारण कर लेना चाहिये।

प्रश्नकर्ताको नारदमोहके प्रसङ्गमें आयी हुई 'बिस्वमोहनी तासु कुमारी' इस अर्धालीपर भी ध्यान देना चाहिये। वहाँ भी 'बिस्वमोहनी' शब्दपर यह शङ्का उठायी जा सकती है, क्योंकि 'विश्व' से नर-नारी सबका बोध होता है। परन्तु वहाँ कोई इस प्रकारकी शङ्का नहीं करता; क्योंकि उपर्युक्त प्रसङ्गोंके दो प्रकारके मोहोंकी भाँति यहाँका मोह तीसरे प्रकारका है। अर्थात् यहाँ न तो सौन्दर्यविषयक 'मोह' है न कामविषयक, बल्कि मायाकृत मोह है, जो 'सो हरि माया सब गुन खानी' से स्पष्ट है। अतः भलीभाँति विचार करनेपर उपर्युक्त प्रश्न ही निराधार सिद्ध हो जाता है।

३७—न कोई ज्ञानी है न मूढ़, यह कैसे ?

बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥

यह दोहा बालकाण्डके अन्तर्गत नारद-मोहके प्रसङ्गमें श्रीशङ्करजीके द्वारा श्रीउमाके प्रश्नके उत्तरमें समाधानरूपसे कहा गया है। इस दोहेपर यह शङ्का उठायी जाती है कि 'जब रघुपतिके किये ही मनुष्य ज्ञानी तथा मूढ़ बनता है, तब तो कर्तव्यके विचारसे किये हुए सब साधन व्यर्थ ही ठहरते हैं।' प्रेमी पाठकोंके हृदयसे इस शङ्काके दूर करनेके लिये भगवान् श्रीराघवकी कृपा-प्रेरणासे अपनी तुच्छ मतिके अनुसार इसका भाव मानस-प्रेमियोंकी सेवामें समर्पण किया जाता है।

श्रीरामावतारके कारणोंका वर्णन करते हुए जब भगवान् श्रीशिवजीने एक कल्पमें अवतारका हेतु इस प्रकार बतलाया कि—

नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा॥

—तब श्रीपार्वतीजीको यह सुनकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उन्होंने तुरंत ही पूछा कि 'प्रभो! नारदके समान ज्ञानी और विष्णु-भक्तके मनमें मोह कैसे उत्पन्न हुआ ?'

गिरिजा चकित भईं सुनि बानी। नारद बिष्नु भगत पुनि ग्यानी॥

× × × × । मुनि मन मोह आचरज भारी ॥

इसीके उत्तरमें यह दोहा है—

बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ ॥

यह बात तो निर्विवाद ही है कि श्रीरघुपति (पूर्णब्रह्म) सर्वेश और सर्वनियामक हैं । वनकाण्डमें श्रीलखनलालजीके प्रति ईश्वर-स्वरूपका वर्णन करते कहा गया है कि 'बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव' । तथा यही बात उत्तरकाण्डमें—

जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य ।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य ॥

—इस दोहेद्वारा प्रमाणित होती है । परन्तु संसारके लिये प्रभु सब सामर्थ्य रखते हुए भी केवल अपने इच्छानुसार ही जीवोंको ज्ञानी तथा मूढ़ एवं जड़ तथा चेतन नहीं बनाते; बल्कि उन्होंने यह नियम बना दिया है कि सब प्राणी अपने-अपने शुभाशुभ कर्मके अनुसार ही अच्छा या बुरा फल पाते हैं । जैसे—

सुभ अरु असुभ कर्म अनुहारी । ईस देइ फल हृदयँ बिचारी ॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥

इस प्रकार समस्त सांसारिक जीवोंके लिये कर्मकी ही प्रधानता रक्खी गयी है । कारण यह है कि जिन्हें अपने कर्तृत्वका अभिमान है, वे अवश्यमेव कर्मके बन्धनमें रहेंगे । उन्हें सञ्चित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण—तीनों प्रकारके कर्मोंसे सम्बन्ध होनेके कारण उनका फल भी भोगना पड़ेगा । भगवान् उनके कर्मोंका जिम्मा क्यों लेने जायँ? परन्तु उन सांसारिक जीवोंमें जिन बड़भागियोंने भगवत्-शरणागति

स्वीकार कर प्रभुके अनन्य दास-भावको ग्रहण कर लिया है, उनका भार तो करुणासिन्धु शरणागतवत्सल प्रभु अपने सिरपर ले लेते हैं। क्योंकि आपका विरद है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

अर्थात् 'अनन्यभावसे चिन्तन करते हुए जो मेरे भक्त मेरी उपासना करते हैं, उन सदा मुझमें लगे रहनेवालोंके योगक्षेमका भार मैं अपने सिरपर ले लेता हूँ।' इसलिये उन अनन्य दासोंके हितार्थ भगवान् जिस समय जैसी आवश्यकता समझते हैं, उसीके अनुसार अपने उन प्रपन्नोंके हितके लिये कभी उन्हें ज्ञानीसे मूढ़ और चेतनसे जड़ बना देते हैं। एवं कभी जड़से चेतन तथा मूढ़से ज्ञानी बनाकर अपने स्वरूपका बोध देकर उन्हें निज सहज स्वरूपकी प्राप्ति करा देते हैं। प्रभु-कृपासे प्रभुका अनुपम शील-स्वभाव ही उनके अनन्य दासोंको सदा प्रभुके भजनमें मग्न रखता है—

उमा राम स्वभाव जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥

यद्यपि प्रभु जगत्‌में समरूपसे रहते हैं, तथापि ऐसे अनन्य दासोंके निमित्त उनके हितके विचारसे वे विषम रूपकी लीला भी स्वीकार कर लेते हैं। जैसे—

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥

तथा—

किष्किन्धाकाण्डमें श्रीमारुतिजीके प्रति भगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥

—यद्यपि मुझको सब समदर्शी कहते हैं, तथापि मुझे सेवक प्रिय हैं; क्योंकि उनके लिये मैं ही अनन्य गति हूँ। अनन्यका स्वरूप भी भगवान् कह रहे हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

"भला, जिसकी यह धारणा हो गयी कि 'मैं सेवक हूँ और चराचर जगत् मेरे प्रभु भगवान्‌का ही रूप है,' तथा जिसकी दृष्टिमें सेवक और स्वामीके अतिरिक्त कुछ रह ही नहीं गया है, उसे मैं प्रिय न मानकर समदर्शिता दिखलाते हुए दूसरे किसके साथ उसकी तुलना करूँ? उसके मनमें तो द्वैतभाव है ही नहीं।" जैसे—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

फिर उनके साथ संसारका चाहे जो प्राणी जो कुछ व्यवहार करेगा, उसके सम्बन्धमें तो वे अनन्य भक्त अपनी धारणाके अनुसार यही समझेंगे कि यह सब हमारे प्रभुकी ही प्रेरणासे ही हो रहा है। श्रीलोमश ऋषिके व्यवहारपर श्रीकाकभुशुण्डिजी अपना यही निश्चय प्रकट कर रहे हैं—

सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन॥

कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी॥
मन बच क्रम मोहि निज जन जाना। मुनि मति पुनि फेरी भगवाना॥

इसलिये ऐसे ही अनन्य दासोंके सम्बन्धमें उपर्युक्त दोहेका तात्पर्य भी स्पष्ट हो जाता है। श्रीनारदजी भगवान्‌के अनन्य दास हैं। प्रभु अपने दासकी रक्षा सदैव करते रहते हैं। जब हिमगिरि-गुहामें नारदजीकी—

सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी। सहज बिमल मन लागि समाधी॥

—समाधि लग रही थी और इन्द्रने अपने इन्द्रासनके बचानेके भावसे उन्हें कामदेवके द्वारा परास्त करना चाहा था, उस अवसर-पर प्रभुने श्रीनारदजीकी रक्षा करनेके लिये उन्हें वह दिव्य ज्ञान प्रदान किया कि जिससे स्वयं कामदेवहीको परास्त होना पड़ा, 'काम कला कछु मुनिहि न व्यापी।' क्योंकि—

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

परन्तु पीछे काम-विजयपर नारदजीको अहङ्कार हो गया। प्रभुजीने जब देखा कि हमारे भक्तके मनमें काम-विजयका अभिमान अङ्कुरित हो गया है—'उर अंकुरेउ गरब तरु भारी', क्योंकि 'जिता काम अहमिति मन माहीं'—तब उन्हीं प्रभुने अपने अनन्य दासके हितार्थ यह निश्चय किया कि—

बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥

बस क्या था ? भगवदिच्छासे नारदजीका सारा ज्ञान जाता रहा, वह मूढ़ होकर कहने लगे—

जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला॥

वे भगवान्के पास रूप माँगनेके लिये गये और श्रीभगवान्ने उनके इस अभिमानरूपी महारोगकी निवृत्तिके लिये उन्हें बंदरका मुँह दे डाला ! नारदजीकी मनःकामना, जो उनका नाश करनेवाली थी, पूरी न हो सकी और वह भगवान्की स्तुति करनेके बदले क्रोधित होकर मूढ़के समान उन्हें शाप दे बैठे । इसी रहस्यको विचारकर भगवान् श्रीशङ्करजी हँसते हुए कह रहे हैं—

× × × ग्यानी मूढ़ न कोइ ।
जब जेहि रघुपति करहिं जस सो तस तेहि छन होइ ॥

भगवान् शङ्करकी यह बात उन प्रभुपरायण अनन्य दासोंके सम्बन्धमें है, जिन्होंने स्वाभाविक ही प्रभुके ऊपर ही अपना सारा भार दे रक्खा है । सांसारिक कर्मोंके बन्धनमें पड़े हुए नर-नारियोंको तो ये वचन अपनेमें न घटाकर अपने सुधारके लिये कर्तव्य-कर्म करना ही उचित है । उनके लिये तो यही सिद्धान्त ठीक है कि—

करम प्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥

श्रीमानसमें विभिन्न अधिकारियोंके लिये पृथक्-पृथक् ऐसे वचन हैं । अक्सर लोग उपर्युक्त दोहे तथा 'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन' इस पदकी ओट लेकर अपने बुरे आचरणोंकी सफाई दिया करते हैं, परन्तु शुभ कर्मोंको अपना किया हुआ कहकर अपनेको शुभकर्मी सिद्ध करते हैं । ऐसे लोगोंको यह याद रखना चाहिये कि उपर्युक्त दोहा नारदजीके सम्बन्धमें है तथा यह पद काकभुशुण्डिजीके सम्बन्धमें है । उन अनन्य भक्तोंको संसारके इन बद्ध जीवोंसे कौन-सी समता दी जा सकती है ? यदि इन्हें उस आनन्दका भागी बनना हो तो इन गुरुजनोंके उदाहरणको सामने रखकर चलें ।

३८–क्या मानसमें नारीजातिका अपमान है ?

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ॥

कुछ लोग इस चौपाईको लेकर श्रीगोस्वामीजीके ऊपर यह आक्षेप किया करते हैं कि उनके हृदयमें स्त्रियों तथा शूद्रोंके प्रति अच्छे भाव नहीं थे; अतः इस पदके यथार्थ भावको स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है ।

श्रीगोस्वामीजीके हस्तलिखित मानस-बीजककी चतुर्थ प्रतिके अनुसार, जो श्रीवेंकटेश्वर-प्रेससे सं० १९५२ वि० में छपी थी, 'सूद्र' पाठ न होकर 'छुद्र' पाठ मिलता है; परन्तु दूसरी प्रतियोंके अनुसार यदि यहाँ 'सूद्र' ही पाठ माना जाय तो भी कोई विशेष आपत्ति नहीं, क्योंकि यहाँ तो भाव ही दूसरा है । पहले तो ये वचन समुद्रके द्वारा अपने अपराधोंकी क्षमा-भिक्षाके लिये कहे गये हैं, जैसे—

सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे । छमहु नाथ सब अवगुन मेरे ॥
गगन समीर अनल जल धरनी । इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी ॥

× × × ×

प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरी कीन्ही॥
ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥

तात्पर्य यह है कि यह उक्ति स्वयं गोस्वामीजीकी नहीं है, बल्कि एक अपराधी पात्र समुद्रके मुखसे उसकी क्षुद्रता तथा गँवारपनेके पश्चात्तापके रूपमें कही गयी है। यहाँ कोई आदर्श नहीं उपस्थित किया गया है, केवल साधारण रीति-नीतिके द्वारा स्वभाव-कथन हुआ है।

'अधिकारी' शब्दपर भी विचार करनेसे यह भाव कदापि नहीं प्रकट होता कि शूद्रों, गँवारों, पशुओं और स्त्रियोंको पीटना ही चाहिये; क्योंकि यहाँ 'ताड़ना' कर्तव्यरूपमें नहीं है बल्कि अधिकाररूपमें है। शिक्षकको अधिकार होता है कि शिष्यों—बालकों-की ताड़ना करे, परन्तु वह अधिकारमात्र ही होता है। शिक्षक तो उसका प्रयोग तभी करता है, जब शिष्य—बालकके हितके लिये उसकी आवश्यकता पड़ती है।

अधिकार और कर्तव्य दोनों एक नहीं। कर्तव्यका पालन तो आवश्यक और अनिवार्य होता है, परन्तु अधिकारके विषयमें यह बात नहीं; उसका तो आवश्यकता पड़नेपर ही प्रयोग होता है। तात्पर्य यह कि यदि आवश्यकता पड़े तो इनको ताड़ना देकर सत्पथपर लाना अनुचित नहीं होता। अतः उपर्युक्त पदका अभिप्राय कदापि यह नहीं हो सकता कि जो लोग अच्छे हों, उन्हें भी व्यर्थ ताड़ना दी जाय। जिन व्यक्तियोंके सुधारकी आवश्य-कता है, वे ताड़नाद्वारा निर्दोष बनाये जानेके अधिकारी हैं। कितने गँवार और शूद्र भी बड़े साधु, महात्मा तथा सत्प्रकृतिके

होते हैं, कितने पशु परम शान्त तथा प्रशंसनीय प्रकृतिके होते हैं, स्त्रियोंमें असंख्य पूज्य देवियाँ पायी जाती हैं; तो क्या ये सभी ताड़नाके अधिकारी हैं ? कदापि नहीं । उस ढोलके कसने और ठोंकनेकी ज़रूरत नहीं, जिसका स्वर स्वयं ठीक है ।

'ताड़ना' शब्दका तात्पर्य भी केवल शासन और शिक्षा ही है; उन्हें दुःख देनेके उद्देश्यसे मारना-पीटना इसका कदापि अभिप्राय नहीं । यहाँ तो 'ताड़ना' शब्दका अभिप्राय उक्त पाँचों व्यक्तियोंके हितार्थ उन्हें शिक्षा देना ही होगा । रोष, अमर्ष अथवा वैरभावका प्रवेश यहाँ कदापि नहीं हो सकता । 'अधिकारी' शब्दसे अपने हितैषी एवं निजत्व रखनेवाले व्यक्ति ही अभिप्रेत हो सकते हैं । अन्य कोई मनुष्य जो किसी प्रकारका सम्बन्ध ही न रखता हो, उसे ताड़ना देनेका अधिकार कैसे हो सकता है ? क्योंकि अधिकार अपनी ही वस्तुपर होता है, अन्यका अन्यकी वस्तुपर अधिकार सम्भव नहीं ।

'ताड़ना' शब्दसे यही ध्वनि निकलती है कि केवल उनके सुधारमात्रके लिये दण्ड प्रयोजनीय है । जैसे ढोलको इस प्रकार हिसाबसे कसना और ठोंकना होता है जिससे वह सुरीली आवाज दे सके; इतना जोरसे नहीं कसा और ठोंका जाता है कि वह बेकाम हो जाय । ढोलको ताड़ना देनेका यह मतलब नहीं समझा जाता कि उसको उठाकर पटक दिया जाय कि जिससे वह चूर-चूर हो जाय अथवा किसी शस्त्रके आघातसे उसपर चढ़ी हुई खालको अलग कर दिया जाय । इसी प्रकार गँवार और क्षुद्र मनुष्योंको डरा-धमकाकर सद्गुणी और बुद्धिमान् बनाना ही

यहाँ अभिप्राय हो सकता है, न कि उन्हें व्यर्थ पीटना अथवा उनकी मान-हानि करना। पशुओंको भी लोग उतना ही डाँटते हैं तथा भागनेसे रोकते हैं जितना कि उन्हें सुरक्षित रखनेके लिये आवश्यक होता है; निष्प्रयोजन उन्हें कोई नहीं पीटता और न इस प्रकार पीटनेका किसीको अधिकार ही हो सकता है। इसी प्रकार स्त्रियोंको स्वेच्छाचारिणी न होने देना ही यहाँ अभिप्रेत है, जिससे वे शान्त, गम्भीर स्वभाववाली और सदाचारिणी बनी रहें। नारियोंके लिये स्वेच्छाचारिणी होना सबके मतसे दोषपूर्ण है। श्रीमानसमें स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखसे निकलता है—'जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारीं।' तथा मनुस्मृतिमें भी कहा है—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्॥
(५। १४८)

अतएव स्त्रियाँ सदा ही रक्षणीया होती हैं—यही नारीके प्रति ताड़नाका हेतु है, उन्हें अपमानित करना या कष्ट पहुँचाना कभी अभिप्रेत नहीं हो सकता।

इस 'ताड़ना' शब्दमें स्वयं उनका हित ही सूचित है। यदि वे इस प्रकार ताड़नाद्वारा शिक्षित और शासित न होंगे तो उनकी उपयोगिता जाती रहेगी और वे स्वयं तो बेकाम हो ही जायँगे, संसारमें भी यत्र-तत्र तिरस्कारका ही पात्र उन्हें बनना पड़ेगा। अतः जो काम हितकी दृष्टिसे हो रहा हो, उसमें द्वेषकी भावनाको खोजना ठीक नहीं। श्रीमानसमें कहा है—

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गुसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि-नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥

—इसके अनुसार प्रस्तुत विषयमें भी द्वेषभावकी कोई गुंजायश नहीं। श्रीमद्गोस्वामीजीने तो 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' ही कथन करनेका सङ्कल्प किया था और वही श्रीरामायणमें हम पाते हैं।

अतः श्रीगोस्वामीजीपर ही क्यों आक्षेप किया जाय ? यदि श्रीग्रन्थकारका स्त्रियोंके प्रति ऐसा भाव होता तो उसी ग्रन्थमें हमें श्रीजगज्जननी सीताजीके पुनीत दिव्य चरितका दर्शन कैसे होता ? कौसल्या, सुमित्रा आदि पूजनीय नारियोंके दिव्य आदर्शको भी वहाँ हम कैसे पाते ? शबरी, त्रिजटा आदि नीच जातिकी स्त्रियोंको उनकी भक्तिभावनाके कारण श्रीगोस्वामीजीने अपने रामायणमें वह स्थान दिया है, जो मुनियोंको भी दुर्लभ है। राक्षसराज रावणकी पत्नी मन्दोदरीके सतीत्व और पातिव्रत तथा बालीकी स्त्री ताराके परम पुनीत चरित्र, जो श्रीरामचरितमानसमें वर्णित हैं, पढ़कर भी कोई श्रीगोस्वामीजीके ऊपर कैसे आक्षेप कर सकता है ? विचारवान् पुरुषोंको ग्रन्थकारके उद्देश्यको देखकर तथा ग्रन्थके अनुबन्धचतुष्टयपर विचार करके ही ग्रन्थकारके मतके विषयमें टीका-टिप्पणी करनी चाहिये, अन्यथा आलोचनाका मूल अभिप्राय ही नष्ट हो जायगा; फिर ग्रन्थके विषयमें जो कुछ शङ्का होगी, वह निजके हार्दिक भावोंको ही प्रकट करेगी। बस, यही जिज्ञासु जनोंकी सेवामें मेरा निवेदन है।

३९—कलियुगमें सुगम साधन भक्ति है या रामनाम ?

प्रश्न—श्रीरामचरितमानसके बालकाण्डके वन्दना-प्रसङ्गमें यह चौपाई आयी है—

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

इससे यह स्पष्ट है कि कलियुगमें न तो कर्मका भरोसा है न भक्तिका और न ज्ञानका ही, बल्कि केवल रामनामका ही सहारा है। परन्तु उसी रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें जहाँ खगेशजीके सात प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीभुशुण्डिजीके द्वारा मानसिक रोगोंका वर्णन हुआ है, वहाँ समस्त मानसरोगोंकी एकमात्र ओषधि केवल रघुपति-जीकी भक्ति ही बतलायी गयी है। यथा—

रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥

अतः यह शङ्का होती है कि वन्दना-प्रसङ्गकी उपर्युक्त उक्तिके अनुसार जब कलियुगमें सच्ची भक्ति हो नहीं सकती, तब इसी कलियुगमें अवतरित हुए हमारे निकटतम आचार्य गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने अपने मानस-ग्रन्थमें कलियुगी जीवोंके लिये

भक्तिको ही एकमात्र ओषधि बतलाकर हमारा कौन-सा हित किया है ? और वह रघुपति-भक्ति क्या वस्तु है ?

उत्तर—बालकाण्डके वन्दना-प्रसङ्गान्तर्गत 'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू' इस कथनमें कर्म, उपासना और ज्ञानका उसी प्रकार निषेध किया गया है, जिस प्रकार 'कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग ।' में यह बतलाया गया है कि सत्ययुगमें ज्ञानयोग, त्रेतामें कर्मयोग (यज्ञ-यागादि) और द्वापरमें भक्तियोग (पूजा-अर्चादि) की प्रधानता थी । इसी दोहेके आगे आनेवाली निम्नलिखित चौपाइयोंसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी । करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी ॥
त्रेताँ बिबिध जग्य नर करहीं । प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं ॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा । नर भव तरहिं उपाय न दूजा ॥

अतएव बालकाण्डके वन्दना-प्रसङ्गकी चौपाईमें जो 'भक्ति' शब्द आया है, उसका तात्पर्य अर्चा-पूजासे ही है, जो द्वापरयुगमें प्रधान धर्म और भवतरणका उपाय थी । और उत्तरकाण्डमें मानस-रोगकी ओषधिवाली चौपाईमें जो 'रघुपति भगति' पद आया है, उसका तात्पर्य पूजा-अर्चादिसे न होकर राम-नामसे ही है, जो कलियुगमें संसार-सागरसे पार जानेका प्रधान उपाय है एवं जिसका वन्दना-प्रसङ्गकी उपर्युक्त चौपाईके दूसरे चरण 'राम नाम अवलंबन एकू' में स्पष्ट उल्लेख हुआ है । वही राम-नाम मानस-रोगोंकी ओषधि भी बतलाया गया है । उस ओषधिकी खोज और पहचान बीजक शब्दोंसे करनी चाहिये । 'रघुपति भगति' पद बीजक और सगर्भ है । इसके अर्थकी खोज उसी वन्दना-प्रसङ्गके उस दोहेसे

कीजिये, जिसमें ग्रन्थकारने इसे (रघुपति-भक्तिको) बीजकके रूपमें रक्खा है। यथा—

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास ॥

अर्थात् रघुपति-भक्ति तो वर्षा-ऋतु है, 'राम' शब्दका आदि वर्ण 'रा' सावन मास है तथा दूसरा वर्ण 'म' भादों मास है। अतएव जब श्रावण और भाद्रपद मासको ही लोग वर्षा-ऋतु मानते हैं, तब 'रा' और 'म' इन्हीं दोनों वर्णों अर्थात् रामनामको ही श्रीगोस्वामीजीने रघुपति-भक्ति बतलाया है।

उन्होंने—

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू ॥

इस उक्तिके द्वारा कलिकालमें केवल राम-नामको ही आधार बतलाया है; उसी राम-नामको वे मानस-रोगोंकी ओषधि भी बतलाते हैं। उनके मतसे राम-नाम ही रघुपति-भक्ति है। इसीसे उन्होंने बीजकके शब्दों—'रघुपति भगति सजीवन मूरी' और 'बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास'—द्वारा उसका परिचय और पता दे दिया है, ताकि अधिकारीजन, जिन्हें ओषधिकी सच्ची आवश्यकता हो, उसे इस ग्रन्थमें खोज लें और उन्हें यह पता चल जाय कि राम-नाम ही रघुपति-भक्ति है तथा कलिकालमें केवल यही एकमात्र अवलम्बन है। अस्तु, जैसा कि प्रश्नकर्ताने समझा है, ऊपरके दोनों वचनोंमें कोई विरोध नहीं है, बल्कि ऐक्य ही है; दोनों पदोंका रामनामसे ही तात्पर्य है।